कथाबिंब

कथाप्रधान त्रैमासिक पत्रिका

अंक १५५ व १५६

जुलाई-दिसंबर २०२१

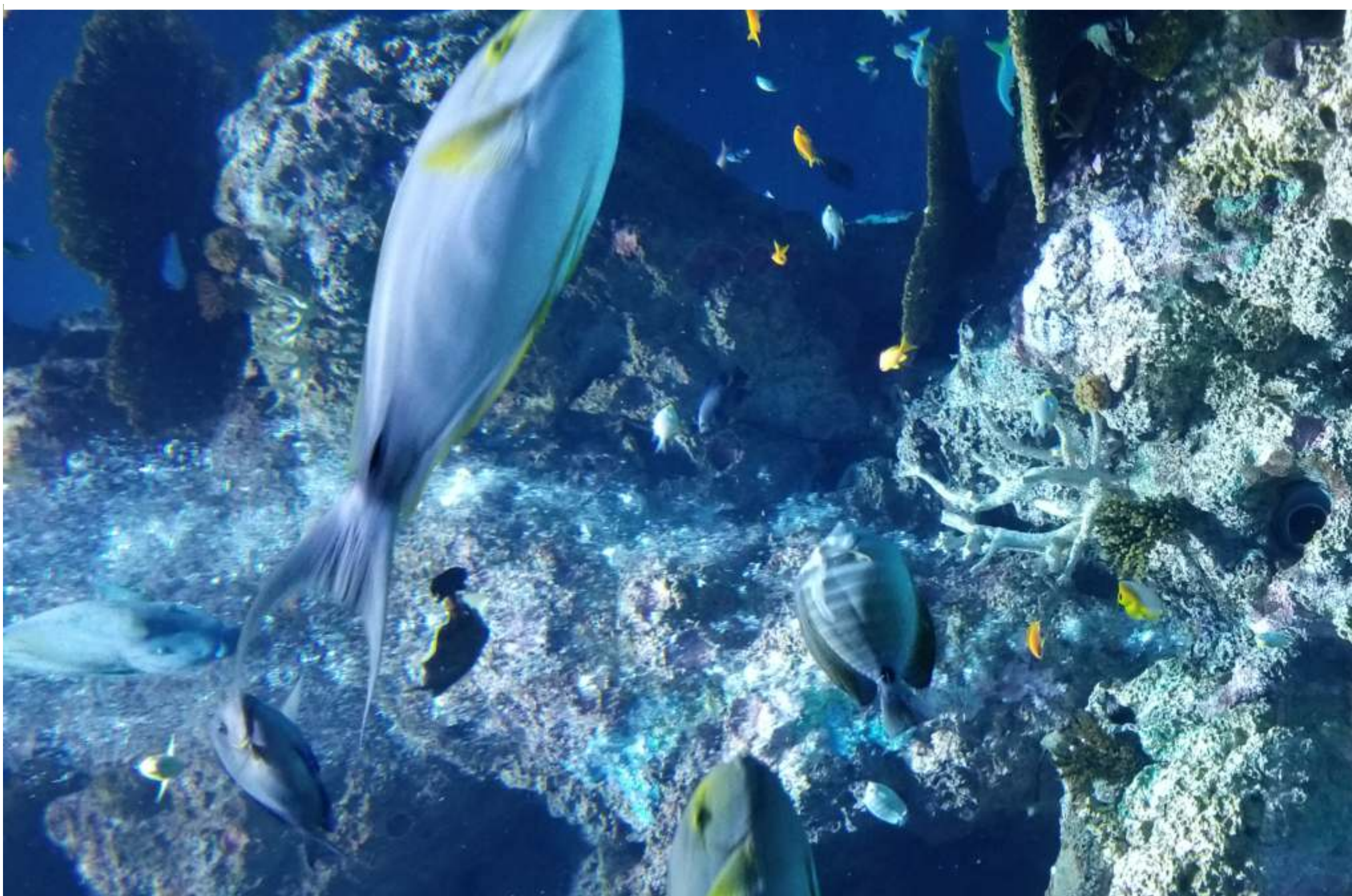

कहानियां

- अशोक गौतम
- अमृता पांडे
- हरिप्रकाश राठी
- सीमा जैन 'भारत'
- दिवा भट्ट
- डॉ. उपमा शर्मा
- डॉ. अमिता प्रकाश
- सिद्धेश
- डॉ. लता अग्रवाल
- सरोजिनी नौटियाल
- पूनम मनु
- महेश शर्मा

सागर-सीपी

डॉ. प्रवीण भारती

२० रुपये

BYNOCS
technology for superior vision
एडल्ट एमब्लिओपिआ की नयी आशा की किरण
AmblyGo
Improve Binocular Vision in Residual and Adult Amblyopes
Visual Acuity
2 to 6 LogMAR lines
Stereopsis
Development
improvement
Quick
30 min
Per Day
6 weeks
www.bynocs.com
76100 76700
दुनिया भर में ४००० से अधिक रोगियों ने नामांकन किया
This is done under supervision of medical experts

स्तंभ

।। ३ ।। "कुछ कही, कुछ अनकही"

।। ५ ।। लेटर बॉक्स

।। ७७।। "सागर-सीपी" / डॉ. प्रवीण भारती

।। ७९।। "औरतनामा" : रानी राशमोणि / डॉ. राजम पिल्लै

।। ८१।। पुस्तक-समीक्षा

● न्यूयॉर्क संपर्क ●

नरेश मित्तल
(M) 845-367-1044

● कैलीफ़ोर्निया संपर्क ●
तूलिका सक्सेना
(M) 224-875-0738

नमित सक्सेना
(M) 347-514-4222

●"कथाबिंब" अब फ़ेसबुक पर भी ●

facebook.com/kathabimb

आवरण पर नामित रचनाकारों से निवेदन है कि वे कृपया अपने नाम को "टैग" करें.

एक प्रति का मूल्य : २० रु.
कृपया नमूने की प्रति मंगाने हेतु
२० रु. के डाक टिकट अवश्य भेजें.
(सामान्य अंक : ४४-४८ पृष्ठ)

आवरण चित्र : **मछली घर, सैंटोसा, सिंगापुर,** १८ जुलाई २०१९.
फ़ोटो : मंजुश्री

"कथाबिंब" मुंबई की "संस्कृति संरक्षण संस्था" के सौजन्य से प्रकाशित होती है.

इच्छुक व्यक्ति आजीवन सदस्यता शुल्क (१००० रु.) सीधे बैंक के खाते में भी भेज सकते हैं.

खाते का नाम व संख्या : KATHABIMB, 018011300001164
बैंक का नाम व पता : JANKALYAN SAHAKARI BANK LTD.
: Sindhi Society, Chembur, Mumbai-400071.
आई इफ एस कोड : JSBL0000018

कथाबिंब

के
संयुक्तांक (१५५ व १५६ अंक)
के प्रकाशन पर हमारी
अशेष
शुभकामनाएं !

—एक शुभेच्छु

(१९७९ से प्रकाशित)

कथाबिंब

जुलाई-दिसंबर २०२१
१५५ व १५६
संयुक्तांक

प्रधान संपादक
डॉ. माधव सक्सेना "अरविंद"

संपादिका
मंजुश्री

संपादन सहयोग
डॉ. राजम पिल्लै
जय प्रकाश त्रिपाठी
अशोक वशिष्ठ
अश्विनी कुमार मिश्र

संपादन-संचालन पूर्णतः
अवैतनिक तथा अव्यवसायिक

●सदस्यता शुल्क●
आजीवन : १००० रु., **त्रैवार्षिक** : २०० रु.,
वार्षिक : ७५ रु.,

कृपया सदस्यता शुल्क
मनीऑर्डर, चैक द्वारा
केवल "**कथाबिंब**" के नाम ही भेजें.

●रचनाएं व शुल्क भेजने का पता●
ए-१० बसेरा, ऑफ दिन-क्वारी रोड,
देवनार, मुंबई-४०० ०८८.
मो. : ९८१९१६२६४८, ९८१९१६२९४९

e-mail : kathabimb@gmail.com
www.kathabimb.com

कहानियां

।। ७ ।। बीजी यहीं हैं – अशोक गौतम
।। १३ ।। बरगद की छांव में – अमृता पांडे
।। १७ ।। पिंजरे – हरिप्रकाश राठी
।। २३ ।। मीरा की बिखरी यादें – सीमा जैन "भारत"
।। २९ ।। मैच फ़िक्सिंग – प्रो. दिवा भट्ट
।। ३५ ।। नदी की अविरल धारा – डॉ. उपमा शर्मा
।। ३९ ।। लेखा-जोखा – डॉ. अमिता प्रकाश
।। ४३ ।। बाबूलाल भंगी – सिद्देश
।। ४७ ।। धरती की बेटी – डॉ. लता अग्रवाल
।। ५३ ।। आखिर क्यों – सरोजिनी नौटियाल
।। ५९ ।। गांठ – पूनम मनु
।। ६३ ।। नीड़ से बिछुड़े – महेश शर्मा

लघुकथाएं

।। ४६ ।। अतीत / डॉ. दिनेश पाठक "शशि"
।। ६९ ।। देश प्रेम / संतोष श्रीवास्तव
।। ८७ ।। उड़ान / संतोष श्रीवास्तव

ग़ज़लें / कविताएं

।। १२ ।। दो ग़ज़लें / श्रीकांत
।। ३७ ।। ग़ज़ल / देवी नागरानी
।। ३८ ।। एक चिंगारी (कविता) / निथिला
।। ५२ ।। कविताएं / सुशांत सुप्रिय
।। ५८ ।। कविता / सुरेंद्र रघुवंशी

कुछ कही, कुछ अनकही

वर्तमान में हम २०२१ के उत्तरार्ध में हैं. वर्ष का यह दूसरा संयुक्तांक है. कोरोना संकट के चलते हुए भी हम अंक प्रकाशित कर पाये हैं तो इसे उपलब्धि समझना चाहिए. ऐसा रचनाकारों और विज्ञापनदाताओं के सहयोग के कारण ही संभव हो पाया. सभी को दीपावली की शुभकामनाएं. एक बार फिर आशा की किरण दिखाई दे रही है. कोरोना का प्रभाव काफ़ी कम होने लगा है, मुख्य कारण है सार्वदैशीय टीकाकरण. अभी भी हमें पूरी तरह सावधान रहने की आवश्यकता है. हमारी थोड़ी-सी लापरवाही दोबारा ख़तरे की ओर ले जा सकती है. संयुक्तांक को पाठक "कथाबिंब" की वेबसाइट पर नवंबर के पहले सप्ताह तक पढ़ सकेंगे. आशा है कि जल्दी ही प्रिंट वर्ज़न भी पाठकों को उपलब्ध होगा. कई बार हमारे पास रचनाकारों के फ़ोन आते हैं कि "कथाबिंब" में कहानी छपने के बाद अन्य पत्रिकाओं की अपेक्षा अनेक पाठकों ने उनसे संपर्क किया. यह सुखद स्थिति है, इसके चलते हम यह भी चाहेंगे कि पाठक प्रकाशित कहानियों पर अपनी प्रतिक्रिया हमें भी भेजें.

"कमलेश्वर-स्मृति कथाबिंब कथा पुरस्कार-२०२१" के लिए अभिमत भेजने हेतु "मत-पत्र" पृष्ठ ८८ पर छपा है. वर्ष २०२१ के दोनों संयुक्तांकों में, पिछले वर्ष की तरह इस वर्ष भी २४ कहानियां प्रकाशित हुईं. पाठकों से निवेदन है कि मत-पत्र के माध्यम से, पोस्ट कार्ड अथवा मेल द्वारा, अपने अभिमत का क्रम हमें भेजें. पाठकों से यह भी अनुरोध है कि कृपया अधिक से अधिक संख्या में इस आयोजन में भाग लें. "कथाबिंब" ही एक मात्र पत्रिका है जो पाठकों के सहयोग से लोकतांत्रिक तरीक़े से कहानी लेखकों को प्रति वर्ष पुरस्कृत करती है. वर्ष के दोनों संयुक्तांक आप "कथाबिंब" की वेबसाइट पर भी पढ़ सकते हैं. वेबसाइट के अलावा "कथाबिंब" को फ़ेसबुक पर भी देखा जा सकता है.

●

संयुक्तांक की कहानियों पर अब कुछ छुट-पुट : हर बार हमारा प्रयास रहता है कि जीवन के अलग-अलग शेड्स की कहानियां पेश की जायें. *"बीजी यहीं हैं"* यह भाई अशोक गौतम की कथाबिंब में पहली कहानी है. वर्तमान दौर में परिवार बहुत छोटे होते जा रहे हैं. घर में किसी महिला बुज़ुर्ग की उपस्थिति काफ़ी महत्वपूर्ण होती है. किंतु धीरे-धीरे यह स्पेस समाप्त प्राय हो जाती है. लेकिन पुत्र, और ख़ासकर पति को लगता रहता है कि पत्नी कहीं आसपास ही हैं. अगली कहानी *"बरगद की छांव में"* (अमृता पांडे) में स्थिति उलट है. पति के गुज़र जाने के बाद आशा जी निपट अकेली रह गयी हैं. पुत्र विदेश में ही रहना चाहता है. आशा जी बरसों बाद अपने गांव आती हैं. पति के साथ बिताये पुराने दिन याद हो आते हैं. ध्यान आता है कि पति और उन्होंने मिलकर एक बरगद का पौधा लगाया था. वह एक वृहद वृक्ष बन गया है. वे गांव में ही रहने का निर्णय करती हैं. तीसरी कहानी *"पिंजरे"* के लेखक हरिप्रकाश राठी कथाबिंब के पाठकों के पूर्व परिचित हैं. अपना मोबाइल ठीक होने के लिए कहानी का नायक एक शाम पास की दूकान पर देता है. मोबाइल ठीक होकर मिलने में कुछ समय है. वह समय बिताने के लिए निकट के म्यूज़ियम में चला जाता है. ग़लती से म्यूज़ियम बंद हो जाता है और सारी रात उसे वहीं बितानी पड़ती है. वह देखता है कि प्रेमचंद, महात्मा गांधी और अनेक महापुरुष न जाने कबसे अपने-अपने पिंजरे में बंद हैं. अगली कहानी *"मीरा की बिखरी यादें"* (सीमा जैन) की मीरा ने प्रताप को बस एक बार ही देखा. उसकी मूरत मन में ऐसी बसी कि फिर सारी ज़िंदगी कोई पसंद ही नहीं आया. लेकिन संभवत: आग दोनों तरफ़ बराबर लगी थी, किंतु परिस्थितियों ने साथ नहीं दिया. पांचवीं कहानी की लेखिका प्रो. दिवा भट्ट ने चिकित्सा-जगत में तेज़ी से फैलती बीमारी को उजागर किया है कि बीमा कंपनियों की मिली भगत से "मैच फ़िक्सिंग" कर कैसे बड़े-बड़े अस्पताल पैसा कमाते हैं. बिल का मीटर चलता रहे इसलिए कई बार रोगी को जल्दी मृत घोषित नहीं किया जाता. अगली कहानी *"नदी की अविरल धारा"* (डॉ. उपमा शर्मा) जीवन का शाश्वत सत्य है. नदी रूपी अल्हड युवती उछलती, इठलाती भावनाओं के प्रवाह में, गीतों में बहती रहती है. बीच में कितने भी अवरोध क्यों न आयें उसे तो अपने सागर से मिलना है. यह बहना अविरल है, यदि किनारे से बंध गयी तो उसकी स्वाभाविक गति अवरुद्ध हो जायेगी. आज़ादी के बाद से अनेक क्षेत्रों में सार्थक बदलाव आया है. लेकिन अभी भी अधिसंख्य लोग ऐसे हैं जिनके लिए जीवन यापन एक चुनौती है. रोज़ कुआं खोदो, रोज़ पानी पियो वाली स्थिति लगातार बनी रहती है. लेखिका डॉ. अमिता प्रकाश *की "लेखा-जोखा"* ऐसे ही परिवार की कहानी है. मरद शराब की लत के कारण कुछ नहीं करता और ऊपर से रोज़ मारपीट करता है. आज़िज होकर पारुलि पति को मार कर घर से भगा देती है और फिर घर की बागडोर अपने हाथ में ले लेती है.

कोरोना काल में डॉक्टर, नर्सेज़ व अन्य असंख्य कर्मचारी अहर्निश मुस्तैदी से अनेक मोर्चे पर डटे रहे. भाई सिद्देश की कहानी का "बाबूलाल भंगी" भी उन्हीं में से एक है. वह रोज़ सीटी बजा-बजाकर बिल्डिंग के घरों से कचड़ा इकट्ठा करता है. कोरोना से संक्रमित होने का ख़तरा निरंतर बना रहता है. लोगों की सहानुभूति उसके प्रति है. लेकिन उसे तो यह भी नहीं मालूम कि रिटायर होने में कितने दिन बाक़ी हैं. कुछ दिन बाबूलाल काम पर नहीं आता. उसकी जगह जल्दी ही दूसरा आदमी आने लगता है.

देश की सुरक्षा में सेना के लाखों सैनिक रात-दिन निग़ाहबानी में संलग्न रहते हैं ताकि देशवासी चैन की श्वांस ले सकें. कभी बम विस्फोट, कभी सेना की टुकड़ी पर हमले की ख़बर. कहानी *"धरती की बेटी"* (डॉ. लता अग्रवाल) का उमेश सेना में था, उसकी और शेवंती की नयी-नयी शादी हुई थी कि उमेश को सरहद पर जाने का आदेश हुआ. एक सुबह परेड करते हुए दुश्मनों ने अटैक कर दिया.

२०–२५ सैनिकों के साथ वह भी शहीद हो गया. शेवंती से यह बात छिपा कर रखी गयी क्योंकि वह नवप्रसूता थी. लेकिन धरती की बेटी ने प्रण लिया कि शीघ्र ही सेना में भर्ती होकर वह अपने पति का सपना पूरा करेगी. मध्यमवर्गीय परिवार की सबसे बड़ी चिंता लड़की के विवाह की होती है. मां–बाप को लगता है कि लड़की की शादी हो और जल्दी से जल्दी वह अपने घर जाये. पर अधिकतर समस्या की शुरूआत यहीं से प्रारंभ होती है जब दो घरों का आर्थिक स्तर समान नहीं होता. ––कहानी *"आख़िर क्यों"* (सरोजिनी नौटियाल). बड़ी लड़की मुदिता की पढ़ाई छुड़ाकर उसकी शादी कर दी जाती है कि पढ़ाई तो बाद में भी हो सकती है. रोज़ की उठापटक. पढ़ाई करके क्या करना है ? तमाम कोशिशों के बाबजूद ससुराल वाले ख़ुश नहीं हो पाते. पूनम मनु की *"गांठ"* अंक की ग्याहरवीं कहानी है. कभी–कभी जीवन में कोई स्त्री ऐसी विकट ऐसी स्थिति में फंस जाती है कि कोई रास्ता नज़र नहीं आता. रति के पड़ोस में हवेली में एक संपन्न परिवार रहता है, तीन बहनों की शादी तीन भाइयों से हुई. तीनों नाबालिग थीं. सबसे छोटी पद्मा जो बहुत सुंदर थी, जब अठारह साल की हुई तो ससुराल से बुलावा आया. किंतु घर आने से पहले पति की एक दुर्घटना में मौत हो गयी. पद्मा अपने बालम से मिल भी न पायी. मज़बूरन उसे बड़ी बहन के साथ रहना पड़ा. जीजा लगातार उसका शारीरिक शोषण करता रहा. बहन ने भी उसका साथ नहीं दिया.

महेश शर्मा जी ने अंक की अंतिम कहानी *"नीड़ से बिछुड़े"* में बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में हर साल आने वाली बाढ़ की विभीषिका का लेखा–जोखा प्रस्तुत किया है. मेहनत से पैदा फ़सल तो नष्ट होती ही है. मज़बूरी में अपना घर–द्वार भी छोड़ना पड़ता है. ऐसे में इंसान तो इंसान जानवर भी विस्थापित नहीं होना चाहते.

●

पूरा विश्व एक दोराहे पर खड़ा है. कोरोना ने नयी–नयी चुनौतियां हमारे सामने उपस्थित की हैं. लंबे समय तक लोग पाबंदियां नहीं चाहते. कुछ देशों की जनता प्रदर्शन कर रही है कि इससे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन होता है. उत्पादन में भारी कमी हो रही है. काम–धंधे सब चौपट हो गये हैं. लेकिन जैसे ही थोड़ी छूट दी जाती है कोरोना फिर से सिर उठाने लगता है. एक तरह से यह लुकाछिपी का खेल है. वर्तमान में छोटे–बड़ों सभी को मिलाकर भारत की जनसंख्या लगभग १४० करोड़ है. ७–८ महीनों में १०० करोड़ से अधिक लोगों का टीकाकरण हो जाना एक महान सफलता है. अभी भी पूरा अभियान युद्ध स्तर पर ज़ारी है. जनता की भागीदारी, अनगिनत संस्थाओं का आपसी सहयोग, दूर–दराज के इलाकों में समय पर एक ख़ास तापमान पर वैक्सीन पहुंचना, पर्याप्त संख्या में सीरिंज़ और वैक्सीन उपलब्ध होना इस सबकी कल्पना करना मुश्किल है.

रूस, जापान, चीन, आस्ट्रेलिया जैसे बहुत से विकसित देश अभी भी कोरोना की चपेट में हैं. सारी दुनिया से यह महामारी कब जायेगी, किसी के लिए भी यह बताना मुश्किल है. अन्य अनेक देशों की तुलना में हमारे देश में स्थिति तेज़ी से सामान्य हो रही है. लॉकडाउन भी उठाये जा रहे हैं. व्यावसायिक गतिविधियां पुन: शुरू हो रही हैं. त्यौहारों के कारण बाज़ारों में भीड़ बढ़ रही है. किसान आंदोलन को लगभग एक साल होने को आया है, शीघ्र इसका कोई न कोई समाधान निकलना चाहिए. २०२२ के प्रारंभ में पांच राज्यों में चुनाव होने हैं : उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड, गोवा, मणिपुर और पंजाब. हमें बहुत अधिक सतर्क रहना होगा. जुलूस, बड़ी–बड़ी रैलियां, हमें संकट में डाल सकते हैं. मुझे तो समझ में नहीं आता कि इस सबके लिए राजनीतिक दलों के पास पैसा कहां से आता है. टीवी की हर चैनल पर थोड़े–थोड़े समय पर अरविंद केजरीवाल का चेहरा दिखाया जाता है, दिल्ली सरकार का विज्ञापन लगातार आता है. एक ख़बर के अनुसार प्रतिदिन अरविंद केजरीवाल विज्ञापन पर एक करोड़ ख़र्च करते हैं. आम आदमी पार्टी ने ऐलान किया है कि पंजाब, उत्तर प्रदेश, गोवा में वह चुनाव लड़ेगी. दिल्ली की तरह ही सस्ती बिजली और पानी मुहैय्या कराने का प्रलोभन दिया जा रहा है. कोई लैपटॉप दे रहा है, साइकिल दे रहा है, स्कूटी दे रहा है. लोन माफ़ करने का वायदा कर रहा है. यह क्या खुले आम आचार संहिता का उल्लंघन नहीं है ? हर तरफ़ अफ़रा तफ़री है. अभी से सांठ–गांठ शुरू हो गयी है. कुछ लोग एक दल छोड़कर दूसरे में जा रहे हैं, जातियों के आधार पर संभावित वोटों की गणना हो रही है. पंजाब की सरकार अच्छी ख़ासी चल रही थी. सिद्धू महाशय कपिल शर्मा शो छोड़ बीच में कूद पड़े. ऊंट किस करवट बैठेगा, कुछ कहा नहीं जा सकता. सुनते हैं कि कैप्टन अमरिंदर सिंह नयी पार्टी बनाने वाले हैं. पंजाब से पाकिस्तान की सरहद लगी हुई है. वहां बहुमत वाली स्थायी सरकार आवश्यक है. कॉन्ग्रेस का हाल सांप–छंछूदर जैसा है. चाहे समाजवादी पार्टी हो, बसपा, आरजेडी हो या तृणमूल हो कोई भी पार्टी कॉन्ग्रेस के साथ गठबंधन नहीं करना चाहती. "हाई कमांड" का किसी पर ज़ोर नहीं चलता. इतने सालों से अध्यक्ष पद पर निर्णय नहीं हो पाया तो सोनिया गांधी ने कहा कि मैं ही अध्यक्ष बनी रहूंगी. ममता बनर्जी गोवा में ज़ोर आजमाइश में लगी हैं.

लॉकडाउन ख़त्म होने के साथ देश में अपराध की घटनाएं बढ़ी हैं. चोरी, डकैती, बलात्कार, हत्याएं. विपक्ष इसमें भी राजनैतिक टूरिज्म का मौक़ा तलाशता रहता है. मरने वाला दलित हो या अल्पसंख्यक तो सोने में सुहागा. आजकल प्रियंका गांधी वाड्रा इसी में लगी हैं. उन्होंने उत्तर प्रदेश में डेरा डाल रखा है. फिर चाहे राजस्थान या छत्तीसगढ़ में छोटी–बड़ी घटनाएं होती रहें, कोई फ़र्क नहीं पड़ता. महाराष्ट्र का हाल अलग है. गृहमंत्री, पुलिस कमिश्नर कहां ग़ायब हो जाते हैं कुछ पता नहीं चलता.

●

लॉकडाउन में स्कूल, कॉलेज बंद होने के कारण कुछ लोगों को ऑनलाइन पढ़ाई के पैकेज़ बेचने का नायाब तरीक़ा हाथ लगा. बाइजू के अलावा अन्य कई कंपनियां भी कमाई कर रही हैं. यह बात दीगर है कि इससे बच्चों के स्वास्थ्य पर असर पड़ रहा है. दूसरी ओर हमारे बिग–बी और बादशाह जैसे नामी फ़िल्मी सितारे गुटका के गुणों का विज्ञापन करके करोड़ों कमा रहे हैं.

अरविंद

लेटर-बॉक्स

▶▶ 'कथाबिंब' का जनवरी-जून, २०२१ का संयुक्तांक मिला. पढ़ा. सारी कहानियां हमेशा की तरह बहुत ही बढ़िया हैं आपका चयन लाजवाब है. पहली ही कहानी डॉ. रमाकांत शर्मा की 'अंतरिक्ष से' बहुत बढ़िया लगी. श्री सतीश सिंह की कहानी 'पिताजी' तो दिल को छू लेने वाली है. प्रकाश कांत जी की कहानी अपने तेवरों, कलेवरों और फ्लेवरों के साथ अद्‌भुत है. लघुकथाएं भी अच्छी हैं. आपके द्वारा प्रकाशित लघुकथाएं फिलर नहीं लगतीं, एक विधा को आप (जान-अनजाने) में स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं. शुभम वैष्णव की लघुकथा 'विरासत' विशेष रूप से उल्लेखनीय है. ग़ज़लें, कविताएं भी शानदार हैं. सागर-सीपी और आमने-सामने तो हमेशा की तरह मील का पत्थर हैं. कुल मिलाकर ख़ूबसूरत से अंक के लिए बधाई स्वीकारें. बहुत कठिन है इस तरह के अंक को निकालना, मैं समझता हूं इसकी कठिनाइयां. मेरे ध्यान में हैं पर कुछ कर नहीं पा रहे हैं. इसका ख़ेद है.

– डॉ. अनंत श्रीमाली,

(पूर्व सहायक निदेशक, भारत सरकार, गृह मंत्रालय, राजभाषा विभाग)

हमलोग सोसायटी, बि.नं. ७५,ए विंग १०२, तिलक नगर, यूनियन बैंक के सामने, मुंबई-४०००८९

▶▶ कथाबिंब का जनवरी-जून २०२१ अंक हस्तगत हुआ. पीडीएफ तो मैंने पहले ही देख ली थी. सबसे पहले तो इस बात की बधाई कि कोरोना काल के संक्रमण के दौरान भी आपकी पत्रिका प्रिंट रूप में छपी. जबकि बड़े-बड़े घरानों की पत्रिकाएं तो लगभग बंद ही हो गयीं. ऐसे में कथाबिंब का संयुक्तांक भी अगर आया तो क्या हुआ, अंक तो आया, और ९६ पृष्ठ का आया! सुंदर आवरण से सज्जित पत्रिका दर्शनीय तो है, पठनीय भी. हमेशा की तरह विभिन्न रचनाओं से गुज़र कर सुखद अनुभूति हुई. अपनी शुरुआत तो 'कुछ कही. कुछ अनकही' से ही होती है. आप वर्तमान समय की ज्वलंत समस्याओं पर बहुत चंद शब्दों में अपनी बात रख देते हैं, यह बड़ी बात है. जैसे इस अंक में आपने कोरोना पर भी बात की. पश्चिम बंगाल के चुनाव पर भी सटीक टिप्पणी की. यहां तक की किसान आंदोलन का भी आपने संस्पर्श किया. कोरोना काल के दौरान होने वाली जमाखोरी पर भी आप ने गहरी चिंता व्यक्त की, और उन लोगों की तारीफ़ भी की, जिन्होंने इस दौरान परमार्थ के बड़े-बड़े कार्य किये. सच कहूं, तो आप पढ़ने वाले संपादक हैं. एक-एक कहानी को पढ़ना और उसके मर्म को समझ कर उस पर एक-दो पंक्तियों में ही अपनी टिप्पणी देना, यह बड़ी बात है. मैंने समय निकालकर लगभग सारी कहानियां पढ़ लीं. लेकिन किसी एक रचनाकार का नाम लेना दूसरों के साथ अन्याय होगा. लघुकथाएं भी गागर में सागर भर रही हैं. लेकिन यहां एक नाम ज़रूर लेना चाहूंगा. कमाल कर दिया 'काली लड़की' ने, यानी काव्या कटारे ने. आठवीं कक्षा की छात्रा है लेकिन उसने ऐसी सधी भाषा में परिपक्व कहानी लिखी है, जिसे पढ़कर कोई भी चकित हो जाएगा. यह लड़की आने वाले समय की बड़ी कथाकार है. इस प्रतिभा की कहानी प्रकाशित कर आपने उसके भविष्य के द्वार खोल दिये हैं. जिसे महेश कटारे सुगम का मार्गदर्शन मिला हो, तो स्वाभाविक है वह कथा-बीज के साथ ही तो विकसित होगी. आमने-सामने में 'गांव की लड़की' के बारे में जानकर अच्छा लगा. साहित्य से धीरे-धीरे आंचलिक-बोध ग़ायब होता जा रहा है जबकि यही आंचलिकता हमें मुख्यधारा के साथ आबद्ध करती है. डॉक्टर विद्याभूषण (सागर-सीपी) के विचार बेहद समीचीन हैं. आपके लेखन ने झारखंड को विशेष पहचान दी है.

- गिरीश पंकज

कृष्ण कुटीर, सेक्टर-३, एचआईजी–२/२,
दीनदयाल उपाध्याय नगर, रायपुर-४९२०१०,
मो.- ८७७०९६९५७४

▶▶ कथाबिंब का संयुक्तांक हस्तगत हुआ. आपने बढ़िया अंक निकाला. आपकी मेहनत स्पष्ट दिखाई देती है. संपादकीय में तमाम कहानियों पर टिप्पणियों के साथ कोरोना और राजनीति पर, देश एवं माहौल पर चर्चा करना अच्छा लगा. कविता, ग़ज़ल, गीत, लघुकथा, कहानियों से भरा बहुत बढ़िया अंक पठनीय है. जिसमें औरतनामा, कहानी संग्रह, पत्र संग्रह व उपन्यास की समीक्षा को भी स्थान दिया

गया है. अंतरिक्ष से पृथ्वी को देखने की ख़्वााहिश संजोने की बात कहानी 'अंतरिक्ष से' अच्छी लगी.

- डॉ. रीता राम

३४/६०३ एच. पी. नगर (पू.), वासी नाका, चेंबूर, मुंबई-४०००८०. मो. ९६१९२०९२७२

▶▶ 'कथाबिंब' का नवीनतम अंक (जनवरी-जून २०२१) प्राप्त हुआ, 'कथाबिंब' के हर अंक का हमेशा बेसब्री से इंतज़ार रहता है. अंक हाथ में आते ही मैं अपनी पुरानी आदत के मुताबिक सबसे पहले 'कुछ कही-कुछ अनकही' पढ़ता हूं जिसमें देश की मौजूदा हालात और ज्वलंत समस्याओं का यथार्थ चित्रण होता है साथ ही अंक में प्रकाशित कहानियों की संक्षिप्त झांकी प्रस्तुत की जाती है.

प्रस्तुत अंक की सभी कहानियां अच्छी लगीं, डॉ. रमाकांत शर्मा की कहानी 'अंतरिक्ष से' ने बचपन की यादों को ताज़ा कर दिया, जिनका बचपन गांवों में बीता है उन्होंने खुले आसमान के नीचे सोने का आनंद लिया ही होगा, छत पर सोते हुए आसमान में तारों को निहारने में एक अलग प्रकार का सुख मिलता था. अंतरिक्ष से सुंदर और शांत दिखनेवाली हमारी पृथ्वी भीतर से बेशक बहुत अशांत है. डॉ. शर्मा से मेरा पुराना परिचय है, हम दोनों भारतीय रिज़र्व बैंक में साथ-साथ में नौकरी करते थे, हिंदी कार्यक्रमों के सिलसिले में हमारी अक्सर मुलाकातें होती थी.

शुभा ओझा की कहानी 'थैंक्यू दोस्त' भी बहुत अच्छी लगी, ज़िंदगी के अंतिम दिनों में से किसी एक के अलविदा हो जाने पर अकेलापन बहुत छलता है, दरअसल बुढ़ापे में जीवन साथी की बहुत ज़रूरत होती है. शुभाजी ने कहानी का बहुत ही सुखद अंत किया है जिसमें नायक अपनी कॉलोनी में रहनेवाली एक अकेली महिला टेरी से प्रभावित होकर स्वदेश लौटता है और अपने बंद पड़े घर में अनाथ बच्चों के लिए अपनी दिवंगत पत्नी सरला के नाम से एक संस्था खोलने का निर्णय लेता है ताकि उसे अकेलेपन से निजात मिल सके.

'कथाबिंब' के चिर-परिचित और मकबूल स्तंभ 'आमने-सामने' में 'वो लड़की गांव की लड़की - एम. जोशी हिमानी' का आत्मवृत्त बहुत ही प्रेरणास्पद लगा, अपनी कविता में उन्होंने गांव का बहुत ही वास्तविक चित्रण किया है. इसके अलावा प्रस्तुत अंक की शेष सभी कहानियां भी मन को छूती हैं. 'कथाबिंब' के प्रत्येक अंक के लिए बेहतरीन कहानियां चुनने के लिए संपादक महोदय नि:संदेह धन्यवाद के पात्र हैं. 'कथाबिंब' मतलब कहानी रूपी ताज़े और खिलखिलाते हुए सुमनों का एक खुबसूरत गुलदस्ता है जिसकी ख़ुशबू से सरोबार होने का हम सबको बेसब्री से इंतज़ार रहता है.

- ताराचंद मकसाने

ए-५०२, यशवासीन, सेक्टर–२७,
खारघर, नवी मुंबई–४१०२१०.
मो. : ९९६९३७५८५१

▶▶ 'कथाबिंब' का जनवरी-जून २१ अंक मिला. इस संयुक्तांक की ६ लघुकथाओं में कृष्ण चंद्र महादेविया की - स्ट्रीट सिंगर, राम मूरत 'राही' की -फ़र्क एवं नीना सिन्हा की - माद्दा ने काफ़ी प्रभावित किया. बड़े-बड़े स्थापित कहानीकारों के बीच काव्या कटारे की बिना पैरा वाली कहानी - काली लड़की लगभग एक ही सांस में पढ़ गया जो काफी मार्मिक और बड़ी प्यारी लगी. उन्हें मेरी ओर से हार्दिक बधाई !

कविता व ग़ज़लों में, अशोक कुमार की - डिग्रियों को पलट-पलटकर यह ढूंढते हैं... कि आख़िर ग़लती कहां हुई / ऋचा सिन्हा की - एकांत में डूब एकसार हो जाना चाहती हूं / एम. जोशी हिमानी की - वो लड़की थी इसीलिए किसी खसरा-खतौनी में उसका ज़िक्र भी नहीं है / हौसला अन्वेशी की - काला मौसम काली बातें, समझ न पाते अच्छे लोग / राजेंद्र निशेश की - सवालों के कटघरे जब धूप खड़ी है, इम्तहानों का सिलसिला कभी थमता नहीं / सतपाल 'स्नेही' की - आ ही जाता है न जाने किस तरह मुझमें हुनर, हो के मुजरिम भी मुझे आज़ाद रख लेता हूं मैं. आदि पंक्तियां अच्छी लगीं.

- श्री पारस कुंज

'सीता निकेत'; जयप्रभा पथ,
भागलपुर-८१२ ००२. मो. ६२०१३३ ४३४७.

(शेष भाग कृपया ८७ पर देखें...)

बीजी यहीं हैं

| अशोक गौतम |

बीजी के जाने से पहले हम छह सदस्य थे इस घर के. मैं, मेरी पत्नी, बाबूजी, बीजी और दो बच्चे, किट्टी और चीनू. यह घर बाबूजी ने पैंतीस साल तक क्लर्की करने के बाद घर की बीसियों ज़िम्मेदारियों को ढोते-ढोते मक्खियों के माश बना बनाकर ईंट ईंट अपने पसीने से सींच कर बनाया है. बीजी ने इस घर को बनाने के लिए वही जानती हैं कि कैसे पैसा–पैसा दांत के नीचे दबा दबा कर जोड़ा है. घर बनाने के लिए दोनों ने पता नहीं अपने पेट को कितना मोसा होगा? वही जानते हैं. डेढ़ साल पहले मैंने बीजी के पहले खुल के फिर चुप विरोध के बाद भी घर की छत पर चार कमरों का सेट बना ही दिया. राजी के कहने पर मैं अपने बच्चों के साथ अब इसी सेट में रह रहा हूं.

मुझे तब बाबूजी, बीजी को नीचे वाले घर में अकेले छोड़ते बहुत बुरा भी लगा था. पर राजी के सामने हथियार डालने पड़े थे. शायद इसके पीछे यह भी हो सकता है कि हर मर्द को चाहे अपने घर की तलाश हो या न हो, पर हर औरत को ज़रूर होती होगी. हर मर्द कहीं अपने लिए स्पेस ढूंढे या न पर हर औरत को अपने लिए एक स्पेस चाहिए जो केवल और केवल उसकी हो.

बाबूजी तब माहौल ताड़ गये थे जब मैंने उन्हें घर की छत पर सेट बनाने के बारे में बताया था. पर बीजी साफ़ मुकर गयी थी यह कहते हुए, 'क्या ज़रूरत है छत पर एक और घर बनाने की? ज़्यादा ही पैसे हो गये हैं तो भागवत करवा लेते हैं. इसी में जब सब ठीक चल रहा है तो और बेकार का ख़र्चा क्यों? जिसको तंगी हो रही हो वह बता दे. मैं बाहर के कमरे में सो जाया करूंगी. संकेत, क्या तुझे अच्छा नहीं लगता कि सारा परिवार एक छत के नीचे

जन्म : म्याणा गांव, जिला सोलन (हि. प्र.) में २४ जून, १९६१.

शिक्षा : पीएच.डी.(हिंदी).

हिमाचल प्रदेश के उच्चतर शिक्षा विभाग में हिंदी विषय के प्राध्यापन कार्य से शुरूआत.

राज्य शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद में रहते हुए हिमाचल प्रदेश शिक्षा विभाग के लिए कक्षा तीन, चार व पांच के लिए अठारह पुस्तकों का संपादन.

अनेक समाचार पत्रों, यथा : दैनिक वीर प्रताप, दैनिक ट्रिब्यून, अमर उजाला, नवभारत टाइम्स, हिंदुस्तान, नूतन सवेरा, ब्लिट्ज, पंजाब केसरी, दैनिक भास्कर, दैनिक जागरण आदि में रचनाएं प्रकाशित तथा सरिता, मुक्ता, सरस सलिल, आजकल, हिंदी चेतना, व्यंग्ययात्रा, वीणा, वागर्थ, कथाबिंब, ककसाड़, पश्यंती, रचनाकार, साहित्यकुंज, साहित्य अमृत, लेखनी, गंगा, कादंबिनी, सोमसी, हिमप्रस्थ, हिमभारती सरीखी पत्रिकाओं में निरंतर कहानियां एवं व्यंग्य प्रकाशित.

रहे? एक चूल्हे पर बना सब एक साथ खाएं?' कह बीजी को जैसे आभास हो गया था कि छत के ऊपर सेट बन जाने का सीधा सा मतलब है कि....बीजी के बाल धूप में सफ़ेद न हुए थे, इस बात का पता मुझे बीच-बीच में लगता रहा था.

'सो तो ठीक है बीजी पर अब बच्चे भी बड़े हो रहे हैं और ऊपर से...' राजी एकदम बोल पड़ी थी तो मैं चौंका था. घर में कहीं अपने लिए स्पेस तलाशने निकली राजी कुछ और न कह जाए, इसलिए उसे संभालने को मैंने ख़ुद को एकदम तैयार कर लिया. पर थैंक गॉड! आगे कुछ कहने के बदले वह चुप हो गयी. पर चुप होने के बाद भी जो वह कहना चाहती थी वह कह चुकी थी, मेरे हिसाब से. उसके यह खुलकर कहने के बाद मैं कहीं से टूटा ज़रूर था. पर जब बाबूजी ने मेरी ओर शांत हो देखा था तो मुझे लगा था कि मैं इतनी जल्दी टूटने वाला नहीं. कोई साथ अभी भी है, बरगद की तरह. राजी को पता था कि अभी जो चुप रह गया तो फिर बात कहना और आगे चला जायेगा. और वह नहीं चाहती थी कि उसकी स्वतंत्रता कुछ और आगे सरक जाये.

ऐसा नहीं कि बीजी ने कभी भी उसे कुछ करने से रोका–टोका हो. बल्कि बीजी तो उसे अपने से भी अधिक मानती थीं. जब देखो, पड़ोस में राजी की तारीफ़ करते नहीं थकतीं. मेरी राजी! वाह क्या कहने मेरी राजी के. मौक़ा मिलते ही बीजी हर कहीं बखान करने लग जातीं, बहू हो तो राजी जैसी. पता नहीं मैंने किस जन्म के कौन से पुण्य किये थे जो मुझे राजी जैसी बहू मिली. घर में मुझे कभी कुछ करने ही नहीं देती. सच कहूं! जबसे राजी घर में आयी है, मैं तो रसोई में जाना ही भूल गयी हूं. भगवान करे, सबको राजी जैसी बहू मिले. राजी को लेकर बीजी इतनी संजीदा कि उतनी तो राजी अपने को लेकर भी कभी क्या ही रही होगी. राजी का ये करो, राजी का वो करो, राजी को ये लाओ, राजी को वो लाओ, राजी को ये पंसद है, राजी को वो पंसद है. राजी को ये पंसद नहीं, राजी को वो पसंद नहीं. बहुत दिन हो गये. राजी को मायके छोड़ आ. पर उसके बाद भी कुछ और भी था जो राजी एक ही छत के नीचे रहने के बाद भी उसे तलाशने निकल पड़ती यदाकदा.

राजी के आगे मैं विवश था, पता नहीं क्यों? मेरी विवशता को बाबूजी मुझसे अधिक जान गये थे. इसलिए जब उन्होंने जैसे कैसे बीजी को समझाया तो बीजी ने छत पर सेट बनाने का न तो विरोध किया और न ही हामी भरी. वह बस मन ही मन, मन मसोसती न्यूट्रल हो गयी.

और मैंने लोन लेकर छत पर सेट बनाने का काम शुरू कर दिया. छत पर बन रहे सेट की दीवारें ज्यों ज्यों ऊपर उठ रही थीं, बीजी को लगता ज्यों आपस में हम हर पल ईंट ईंट एक दूसरे से ओझल होते जा रहे हों. बीजी को लगता ज्यों हमारे और उसके बीच कोई दीवार पल-पल बड़ी हो रही हो. इधर–उधर से दीवारें हर रोज़ ज्यों-ज्यों कुछ और ऊंची उठतीं, तब लगता ज्यों मुझे बीजी और बाबूजी को देखने में दिक़्क़त होने लगी हो. पर राजी ख़ुश थी. अंदर से या बाहर से या कि अंदर बाहर दोनों ही जगह

से, वही जाने.

पर इतना सब होने के बाद भी बीजी सारा दिन बाबूजी के साथ काम कर रहे मिस्त्रियों, मज़दूरों की निगरानी करती, मज़दूरों को काम करते रहने के बाद भी वजह बेवजह टोकती रहती कि पहले ये करो, वो करो. शाम को जब काम बंद कर मिस्त्री मज़दूर चले जाते तो बिखरी रेत उनके द्वारा इकट्ठा हो जाने के बाद भी बीजी झाड़ू लेकर यों ही बिखरी रेत इकट्ठा करने लग जातीं.

चार महीने में सेट बन कर तैयार हो गया तो राजी ने संकेत में वह सब कह डाला जिसका मुझे महीनों पहले यकीन था, 'संकेत! कैसा रहेगा जो हम यहां किचन में कुछ कुछ किचन का सामान रख कुछ बनाना भी शुरू कर दें?'

'पर नीचे भी तो किचन है. बीजी हैं, बाबूजी हैं. राजी एक ही किचन में सब एक साथ मिल बैठ कर खाएं तो तुम्हें नहीं लगता कि खाने का स्वाद कुछ और ही हो जाता है?' मैंने पता नहीं तब कहां से कैसे हिम्मत जुटा राजी से कहा था? पर मुझे पता था कि मेरी ये हिम्मत अधिक दिन टिकने वाली नहीं. और हफ़्ते बाद ही वह पस्त भी हो गयी.

ऊपर वाले सेट में पुताई भी हो चुकी थी. फ़र्नीचर भी ख़रीदा जा चुका था. पंडितजी से प्रवेश का शुभ मुहूर्त भी निकलवा लिया गया था.

राजी ये सब देख बहुत ख़ुश थी तो बीजी उदास. बाबूजी न ख़ुश थे, न उदास. शायद उन्हें सब पता था कि अब आगे क्या होने वाला है. घर के हर मौसम को वे बड़े बारीक़ी से पढ़ने में सिद्धहस्त जो थे.

पंडितजी आये. सेट में हवन पूजन हुआ. नयी रसोई में खाना बना. बीजी ने पंडितजी के लिए अपने हाथों से खाना बनाया. पर उस वक़्त बीजी खाना बनाते हुए पहले जैसी नहीं चिहुक रही थीं. खाना बनाते हुए न कहीं वह पहले जैसा जोश, न ही कहीं दाल में वह पहले जैसे तड़के की ख़ुशबू.

पंडितजी जब पूजा हवन कर चले गये तो हम सब रोटी खाने बैठे. बीच में पके खाने के बरतन और उसके इर्द गिर्द हम सब. खाना बने बरतनों के बिल्कुल नज़दीक बीजी, हर बार की तरह. तब बीजी ने मेरी थाली में दाल डालते हुए मेरे भीतर झांकते पूछा, 'संकेत! ऊपर वाला सेट बन गया सो तो ठीक, पर साफ़ कहे देती हूं, चूल्हा जलेगा तो बस एक ही जगह,' मैं चुप! मेरे हाथ का ग्रास हाथ में तो मुंह का मुंह में. बाबूजी सब जानते थे. इसलिए वे चुपचाप रोटी खाते रहे. उस वक़्त वे बीजी के इस फ़ैसले के न तो पक्ष में बोले न विपक्ष में. वैसे, पता नहीं उस वक़्त क्यों मुझे ही कुछ ऐसा लगा था कि ज्यों वे कुछ कहने की हिम्मत कर रहे हों. पर ऐन मौक़े पर ज्यों चुप हो गये थे. दोनों बच्चे नये लाये सोफ़ों पर पलटियां खा रहे थे. हमें रोटी देती बीजी उन्हें कनखियों से घूरने लग गयी थीं. पर मैंने उस वक़्त खाना खाते हुए साफ़ महसूस किया था ज्यों आज बीजी के हाथ उदास हैं. उसके हाथों से खाना बनाने की वह मास्टरी कहीं समुद्रों दूर चली गयी है या कि उसने कहने को ही आज खाना बनाया हो.

बीजी की बात जब मौन रहकर भी नकार दी गयी या कि राजी द्वारा ऐसी परिस्तिथियां जन्मा दी गयीं कि कुछ दिन तक तो राजी पहले नीचे सबको खाना बनाती पर बाद में बीच–बीच में ऊपर की रसोई में बच्चों के लिए स्कूल का भी लंच बना लेती. फिर धीरे-धीरे बच्चों के स्कूल से आने के बाद का भोजन भी ऊपर ही बनने लगा.

और एक दिन जब मैं और राजी नीचे बीजी वाले घर में गये थे कि बीजी ने ख़ुद ही राजी से वह सब कह दिया जो राजी बीजी के मुंह से बहुत पहले सुनना चाहती थी, पर कम से कम बीजी से तो मुझे वह सब कहने की उम्मीद न थी. क्योंकि मैंने बीजी को चालीस साल से बहुत क़रीब से देखा था. इतना क़रीब से जितना बाबूजी ने भी बीजी को न देखा हो. बीजी ने उस दिन बिना किसी भूमिका के राजी से कहा था, 'राजी, तू ऊपर नीचे दौड़ती थक जाती है. ऐसा कर, ऊपर की किचन में ही खाना बना लिया कर. मैं नीचे कर लिया करूंगी.'

'पर बीजी आप?'

'हमारा क्या! सारा दिन मैं करती भी क्या हूं? इनके और अपने लिए मैं यहीं खाना बना लिया करूंगी. जिस दिन खाना न बने उस दिन को तू तो है ही,' पता नहीं कैसे क्या सोच कर बीजी ने हसंते हुए राजी के स्पेस को और स्पेस दिया तो मैं हतप्रभ! आख़िर बीजी भी समझौते करना सीख ही गयीं?

उस वक़्त तब मैंने साफ़ महसूस किया था कि कल तक जो बीजी उम्र की ढलान पर बाबूजी से अधिक अपने को फिसलने से बचाए रखे थीं, आज वही बीजी उम्र की ढलान से अधिक जज्बाती ढलान पर फिसली जा रही थीं. जब आदमी समझौता करता है तो ढलानों पर ऐसे ही फिसलता होगा शायद! अपने को पूरी तरह फिसलाव के हवाले कर.

इस निर्णय के बाद से बीजी के चेहरे पर से धीरे-धीरे मुस्कुराहट ग़ायब रहने लगी. यह बात दूसरी थी कि मैं और दोनों बच्चे सुबह शाम बीजी के पास जा आते. बच्चे तो कई बार वहीं से डिनर करके आते तो राजी तुनकती भी. पर मुझे अधिक देर तक बीजी बाबूजी के साथ बच्चों का रहना अच्छा लगता. उस वक़्त कई बार तो मुझे ऐसा लगता काश! मैं भी चीनू होता. काश! मैं भी किट्टी होता.

जिस बीजी के हाथों का बनाया खाने से रोगी भी ठीक हो जाते थे, धीरे-धीरे वही बीजी अपने ही हाथ का बना खाने से बीमार होने लगीं.

अब मैं जब भी बीजी को अस्पताल ले जाने को कहता तो वह हंसते हुए टाल जातीं, 'अभी तेरे बाबूजी हैं न! वैसे भी अभी कौन-सी मरी जा रही हूं. बूढ़ा शरीर है. कब तक इसे उठाए अस्पताल भागता रहेगा. जब लगेगा कि मुझे तेरे साथ अस्पताल जाना चाहिए, तुझे कह दूंगी,' और बीजी बिस्तर पर पड़ी-पड़ी पता नहीं बड़ी देर तक किस ओर देखती रहती. मुझसे पूरी तरह बेख़बर हो. जैसे मैं उसके पास होने के बाद भी उसके पास बिल्कुल भी न होऊं. बीजी को टूटते देख तब टूट तो मैं भी रहा होता पर बीजी से कम तेज़ी से. कई बार हम केवल अपने को असहाय हो टूटता देखते भर हैं. अपने टूटने को रोकना न उस वक़्त अपने हाथ में होता है न किसी और के हाथों में. कई बार टूटना हमारी नियति होती है केवल. और उसे चुपचाप भोगने के सिवाय हमारे पास दूसरा कोई और विकल्प होता ही नहीं. फिर हम चाहे कितने ही विकल्प खोजने के लिए सैंकड़ों सूरजों की रोशनी में कितने ही हाथों पांवों को इधर उधर मारते रहें तो मारते रहें.

दिसंबर का महीना था. आख़िर वही हुआ! बीजी ने जम कर चारपाई पकड़ ली. बीजी को जो एक बार बुख़ार आया तो उसे साथ लेकर ही गया. शायद सोमवार ही था उस दिन. सामने पेड़ के पत्ते पीले तो आसमान में सूरज पीला. एक ओर बीजी का चेहरा पीला तो दूसरी ओर बीजी को तापती धूप पीली. बीजी ने चारपाई पर लेटे-लेटे पूछा, 'राजी कहां है?'

'बीजी ऊपर है, कोई गेस्ट आया है. उसे देख रही होगी. कुछ करना है क्या?'

'नहीं. तू जो पास है तो लगता है मेरे पास मेरी पूरी दुनिया है,' बीजी ने सूखे होंठों पर जीभ फेरते कहा. बाबूजी भीतर बीजी के लिए जूस बना रहे थे. मैंने बाबूजी को जूस बनाने को कहा था पर बाबूजी साफ़ मुकर गये थे ,'तेरी बीजी ने मेरा बहुत ख्याल रखा है सारी उम्र, मेरे बदले ख़ुद मरती रही देवी सी. अब मैं भी चाहता हूं कि....'

'टाइम क्या हो गया है?' बीजी ने पूछा तो मैंने मोबाइल में टाइम देख कर कहा, 'बीजी, पांच बज रहे हैं.'

'बड़ी देर नहीं कर दी आज इन्होंने बजने में?' बीजी ने अपना दर्द अपने में छिपाते पूछा.

'बीजी! रोज़ तो इसी वक़्त पांच बजते हैं. हमारी जल्दी से तो समय नहीं चलेगा न?' मैंने बीजी के अजीब से सवाल पर कहा तो वह बोली, 'देख न! रोज़ पांच बजते हैं और एक दिन हम ही नहीं होते, पर पांच फिर भी बजते हैं. हमारे जाने के बाद भी सब वैसा ही तो रहता है संकु! बस कोई एक नहीं रहता. एक समय के बाद उसे क्या, किसी को भी नहीं रहना चाहिए,' कह बीजी ने पता नहीं क्यों दूसरी ओर मुंह फेर लिया था तब?

और बीजी चली गयीं. पंद्रह दिन तक उसके जाने के अनुष्ठान होते रहे. बाबूजी ने मुझसे बीजी का मेरा काम भी न करने दिया. जब भी मैं कुछ कहता, वे मुझे बस चुप भर रहने का इशारा करके रोक देते. तब पहली बार पता चला था कि बाबूजी बीजी को कितना चाहते थे? बीजी को कितनी गंभीरता से लेते थे? नहीं तो मैंने तो आज तक यही सोचा था कि बाबूजी ने बीजी को कभी गंभीरता से लिया ही नहीं. बीजी ही बाबूजी की चिंता करती रहीं उम्र भर. और मरने के बाद भी करती रहेगी.

बीजी अपने रस्ते चली गयीं तो हम सबकी ज़िंदगी बीच-बीच में बीजी को याद करते अपने रस्ते चलने लगी.

मैं बहूधा महसूस करता कि बाबूजी को अब बीजी पहले से अधिक याद आ रही हों जैसे. जब कभी परेशान होता तो बाबूजी को कम बीजी को अपने कांधे पर हाथ रखे अधिक महसूस करता. तीज त्योहार, ब्याह शादियों में बीजी बहुत याद आतीं. अपनी पीढ़ी के हर तीज त्योहार, पर्व के लोकगीतों का संग्रह थीं वह. ऊपर से आवाज़ ऐसी कि जो एक बार बीजी के मुंह से कोई लोकगीत सुन ले तो सुनता ही रह जाये.

बीजी के जाने के बाद जब भी मौक़ा मिलता बाबूजी बीजी की बातें ले बैठते. बीजी के साथ के मेरे होने से पहले के क़िस्से तक मुझसे सांझा करने से नहीं हिचकते. कई बार तो बाबूजी के नकारने के बाद भी साफ़ लगता कि बीजी के जाने के बाद बाबूजी बीजी के और नज़दीक हो गये हों जैसे. पता नहीं ऐसा क्यों होता होगा कि किसी के जाने के बाद ही हम उसके पहले से और नज़दीक हो आते हैं.

बाबूजी को अपने साथ यों खुलते-घुलते देख मैं हैरान था कि कहां वह बाबूजी का मेरे साथ रिज़र्व से भी रिज़र्व रहना और कहां आज इतना घुलमिल जाना कि... बाबूजी कभी देवानंद, कभी सुनील दत्त तो कभी किशोर कुमार भी रहे थे, धीरे-धीरे वे जब ख़ुश होते तो मेरे पूछे बिना ही अपनी परतें यों खोलते जाते ज्यों अब मैं उनका बेटा न होकर उनका दोस्त होऊं.

बीजी के जाने के बाद मैंने ही नहीं, राजी ने भी बाबूजी के चश्मे का नंबर चार महीने में चार बार बदलते देखा. हर बीस दिन बाद बाबूजी की शिकायत, मेरी आंखें कुछ देख नहीं पा रहीं. तब राजी ने मन से बाबूजी से कहा भी था कि वे हमारे साथ ही पूरी तरह से रहें. पहले तो बाबूजी माने नहीं, पर बाद में एक शर्त बीच में डाल मान गये. अवसर देख उन्होंने शर्त रखी, 'तो शाम का भोजन सबके लिए नीचे की रसोई में ही बना करेगा. और... '

'और क्या बाबूजी?' उस वक़्त ऐसा लगा था मानों मेरे से अधिक राजी बाबूजी के क़रीब जा पहुंची हो.

'और रात को मैं नीचे ही सोया करूंगा.'

'यह कैसे संभव है बाबूजी?' राजी ने मुझसे पहले आपत्ति जतायी तो वे बोले, 'देखो राजी बेटा! वहां मेरा अतीत है, मेरा वर्तमान है. आदमी हर चीज़ से कट सकता है पर अपने अतीत, वर्तमान से नहीं इसलिए.... क्या तुम चाहोगी कि मैं अपने अतीत, अपने वर्तमान से कट अपने आप से कट जाऊं, तुम सबसे कट जाऊं? कभी-कभी तो आदमी को अपनी शर्तों पर जी लेना चाहिए या कि आदमी को उसकी शर्तों पर जी लेने देना चाहिए. इससे संबंधों में गरमाहट बनी रहती है राजी, 'बाबूजी बाबूजी से दार्शनिक हुए तो मैं अवाक़! क्या ये वे ही बाबूजी हैं जो पहले कभी कभी तो बाबूजी भी नहीं होते थे.

'ठीक है बाबूजी! जैसे आप चाहें,' मैंने और राजी ने उनके आगे ज़्यादा ज़िद नहीं की यह सोच कर कि जब दो दिन बाद ही अकेले वहां ऊब जाएंगे तो फिर जाएंगे कहां?

उस रोज़ मैं हाफ़ टाइम के बाद ही ऑफ़िस से घर आया तो बाबूजी को धूप में न बैठे देख अजीब-सा लगा. क्योंकि अब उनको ऑफ़िस को जाते, ऑफ़िस से आते देखना मुझे पहले से भी ज़रूरी-सा लगने लगा था. अचानक मन में यों ही बेतुका-सा सवाल पैदा हुआ कि कहीं बाबूजी से राजी की कोई.... पर अब राजी और बाबूजी के रिश्ते को देखकर कहीं ऐसा लगता नहीं था जो..., सो इस बेतुके सवाल को परे करते मैंने राजी से पूछा, 'आज बाबूजी धूप में नहीं आए क्या?'

'क्यों? आये तो थे. पर तुम?'

'तबीयत ढीली-सी लग रही थी सो सोचा कि घर आकर आराम कर लूं . शायद तबीयत ठीक हो जाए. कहां गये हैं बाबूजी?'

'कह गये थे जरा नीचे जा रहा हूं. कुछ देर बाद आ जाऊंगा. चाय बनाऊं क्या?'

'हां, बना दो सबके लिए. इतने में मैं नीचे जा आता हूं बाबूजी को देखने. देखूं तो सही वे...' और मैं दो-दो की एक सीढ़ी करता नीचे उतर गया. बाबूजी जब बाहर नहीं दिखे तो यों ही खिड़की से भीतर झांका यह देखने के लिए कि भीतर बाबूजी क्या कर रहे होंगे? भीतर देखा तो वे... बाबूजी ने पहले सोफ़ों के कवर ठीक किये, फिर सामने बीजी की टंगी तस्वीर की धूल साफ़ की अपने कुरते से. उसके बाद बीजी की तरह ही टेबुल साफ़ करने लगे. टेबुल साफ़ कर हटे तो बीजी की तरह ही किचन के दरवाज़े की जाली दरवाज़े के पीछे रखे झाड़ू से साफ़ करने लगे. देख

बड़ा अचंभा हुआ! जिन चीज़ों से बाबूजी का कभी दूर-दूर तक का कोई वास्ता न होता था, इस वक़्त वे चीज़ें बाबूजी के लिए इतनी अहम् हो जाएंगी, मैंने सपने में भी न सोचा था. मैंने तो सोचा था कि बीजी के जाने के बाद बाबूजी और भी बेपरवाह हो जाएंगे. बड़ी देर तक मैं यह सब फटी आंखों से देखता रहा. अचानक मेरी आंख़ों के गीलेपन के साथ मेरी सिसकी निकली तो सुन बाबूजी चौंके, 'कौन? कौन??'

'मैं बाबूजी संकु!'

'तू कब आया?' बाबूजी ने अपने को छुपाते सामान्य हो पूछा तो मैंने भी अपने को छुपा सामान्य होते कहा, 'आज तबीयत ठीक नहीं थी, सो सोचा घर जाकर कुछ आराम कर लूं तो शायद.... पर आप यहां... राजी को कह देते, नहीं तो मैं कर देता ये सब....'

'नहीं! अपने हिस्से के कई काम कई बार ख़ुद करके मन को बहुत चैन मिलता है संकु. तुम्हारी बीजी के जाने के इतने महीनों बाद भी जब–जब यहां आता हूं तो लगता है कि तुम्हारी बीजी यहीं कहीं है. हम सबके साथ. वह शरीर से ही हमसे जुदा हुई है. तुझे ऐसा फ़ील नहीं होता क्या?' बाबूजी ने मुझसे पूछा और मुंह दूसरी ओर फेर लिया. पक्का था, उनकी आंखें भर आयी थीं. सच पूछो तो उस वक़्त मैंने भी बाबूजी के साथ बीजी का होना महसूस किया था पूरे घर में. सोफ़ों पर, टीवी के पास, किचन में, पूजा के पास हर जगह. क्योंकि मैं जानता हूं कि जहां बीजी न हो, वहां बाबूजी एक पल भी नहीं टिकते, एक पल भी नहीं रुकते. कोई उन्हें रोकने की चाहे लाख कोशिशें क्यों न कर ले, वे अपने आप ऐसी जगह रुकने की हज़ार कोशिशें क्यों न कर लें. बाबूजी आज भी कुछ मामलों में बड़े स्वार्थी हैं. ऐसे में इस वक़्त जो बीजी उनके साथ न होती तो भला वे जब धूप भी धूप तापने को धूप की तलाश में दर-दर भटक रही हो, उसे छोड़ बीजी के बिना यहां होते भला?

गौतम निवास, अप्पर सेरी रोड,
नज़दीक मेन वाटर टैंक,
सोलन- १७३२१२ (हि. प्र.)
मो ९४१८०७००८९

दो ग़ज़लें

श्रीकांत

नज़्म लिखता हूं या ग़ज़ल कहता हूं,
मैं अपनी रवानी में रहता हूं.

हैं किरदार जमाने में न जाने कितने,
मैं अपनी कहानी में रहता हूं.

हिज्र के दिन तुम हिसाब देना दुनियां का,
मैं अपनी आंखों के पानी में रहता हूं.

चार मिसरे क्या कहे तुम्हारी शादमानी में,
मैं जमाने की निगहबानी में रहता हूं.

मुझको मालूम नहीं मेरा दिल धड़कता है कैसे,
मैं यहां रहता ही नहीं, मैं तो दीवानगी में रहता हूं.

मेरे मौला मुझे दोज़ख़ अता करना,
मैं हर वक़्त तेरी नाफ़रमानी में रहता हूं.

कुछ ख़्वाब सजाये रखखे हैं कुछ ख़्वाब तुम्हारे सोचे हैं,
कुछ ख़्वाब संजोये पन्नों पर कुछ ख़्वाब हमारे बोने हैं.

कुछ ख़्वाबों की ताबीर हुई कुछ ख़्वाब अधूरे छूट गये,
कुछ ख़्वाब छुपा के रखखे हैं कुछ ख़्वाब अभी भी जीने हैं.

कुछ ख़्वाब बिखेरे तारों पर कुछ ख़्वाब क्षितिज पर फैलाये,
कुछ ख़्वाब पहनकर छोड़े हैं कुछ ख़्वाब अभी भी सीने हैं.

कुछ ख़्वाब हमारे मौन रहे कुछ ख़्वाब हमारे बोल गये,
कुछ ख़्वाब दिखे हैं आंगन में कुछ ख़्वाब हमारे कौने हैं.

कुछ ख़्वाब बटोरे साहिल से कुछ ख़्वाब तीर पर छोड़ दिये,
कुछ ख़्वाब दिखाने सब को हैं कुछ ख़्वाब हमें भी पीने हैं.

२५९ सुभाषगंज, झांसी- २८४००२.(उ. प्र.)
मो. :९४१५०३१९६६

बरगद की छांव

| अमृता पांडे |

शिक्षण और आकाशवाणी में उद्घोषिका के रूप में ८ वर्ष का अनुभव. चार साझा संग्रह प्रकाशित. तीन प्रस्तावित. अमर उजाला, रूपायन पत्रिका, दैनिक जागरण, अमृत विचार, उत्तर उजाला जैसे समाचार पत्रों के अतिरिक्त विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में नियमित रूप से आलेखों और रचनाओं का प्रकाशन.

संप्रति : स्वतंत्र लेखन.

ढलान में उतरने के कारण कार की गति कुछ कम हो गयी थी. घुमावदार रास्ते को नापते कार धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी. मंद-मंद पवन बह रही थी. आशा जी ने गाड़ी का शीशा नीचे कर लिया. वे प्रकृति के इस सुंदर नज़ारे को बिना किसी अवरोध के क़रीब से महसूस करना चाहती थीं और साथ में हवा के इन नरम झोंकों का अहसास अपने चेहरे पर पाना चाहती थीं. शहर की आबोहवा ऐसी कहां...? वहां पर तो कई बार जाड़ों में चार-चार महीने तक मास्क लगाना आवश्यक था क्योंकि वायु प्रदूषण का स्तर काफ़ी अधिक बढ़ जाता था. हरे-भरे जंगलों से ढके पहाड़, उनके बीच में कभी-कभी दिखता सूरज का लाल गोला जो अपने दिनभर की यात्रा पूरी करने के बाद अब विश्राम की ओर बढ़ रहा था. कार के आगे बढ़ने के साथ-साथ कभी दिखता और कभी ओझल हो जाता. देवदार और बाज के ऊंचे-ऊंचे वृक्ष हरियाली की गाथा कहते, उनके बीच में लहराते बुरांश के वृक्ष जिनमें सुर्ख लाल फूल मानो अपने सौंदर्य से ख़ुद ही प्रभावित होकर इतरा रहे हों. आशा जी का मन हुआ कि वे कार से उतरकर कुछ देर इस मनोरम दृश्य का आनंद लें.

'अरे बेटा, ज़रा गाड़ी रोकना. पैर थक गये हैं बैठे-बैठे. थोड़ी देर बाहर की ताज़ी हवा का आनंद लेती हूं. तू भी तो इतने लंबे सफ़र में गाड़ी चलाते हुए थक गया होगा. थोड़ा सुस्ता ले और कुछ खा ले.'

जयराम ने थोड़ी-सी जगह देखकर गाड़ी किनारे लगा दी.

गाय, बैल और बकरियों के झुंड अपने छोटे-छोटे बच्चों के साथ घर को वापस लौट रहे थे. उनके साथ में कुछ चरवाहे भी थे. जो अपनी स्थानीय भाषा में उन्हें सीधे घर चलने को आवाज़ दे रहे थे. लगता था कि कुछ जानवर अपने झुंड से बिछड़ गये हैं या घास खाने में इतने

तल्लीन हो गये कि ध्यान ही नहीं रहा कि घर लौटने का समय हो गया है. चरवाहे एक विशेष तरह की आवाज़ निकाल कर उन सबको बुलाने की कोशिश कर रहे थे और अलग-अलग दिशाओं से जानवर आकर एक साथ एकत्र हो रहे थे. किसी स्त्री की बिंदी सरीखा सूरज का लाल गोला पहाड़ी पर आकर टिक गया था. मानो सकल जगत से विदा ले रहा हो और कल फिर से आने का वचन दे रहा हो. पक्षी भी अपने-अपने नीड़ की ओर जाने को आतुर थे और बड़े ही अनुशासित तरीक़े से झुंड के झुंड में आसमान में उड़ते दिख रहे थे.

इस अद्भुत नज़ारे में आशा जी इस क़दर खो गयीं कि जहां बैठी थीं वहां से उठने का नाम ही नहीं ले रही थीं. उनके घर की दूरी यहां से अभी लगभग सात किलोमीटर और थी. कुछ ही दूरी पर कार में बैठा जयराम बाहर आ गया. आशा जी के पास आकर बोला, 'मां जी, घर नहीं चलना क्या...यहीं बैठी रहेंगी...?'

उसकी आवाज़ सुनकर आशा जी की तंद्रा भंग हुई, 'अरे जयराम, देख ना... कितना सुंदर दृश्य है वहां शहर में यह सब कहां नसीब...? अच्छा यह बता कि घर पहुंचने में अभी कितना समय लगेगा.'

'मां जी, मुझे लगता है कि मोबाइल नेटवर्क कुछ कमज़ोर पड़ गया है लेकिन लगभग सात आठ किलोमीटर और चलना है. आधा घंटा मान लीजिए.'

लगभग सभी जानवर अब वहां से जा चुके थे. सूरज भी आराम करने पहाड़ी के पीछे जा चुका था मगर आसमान में पश्चिम दिशा में अभी भी लालिमा छायी हुई थी. आशा जी ने इस दृश्य को अपने कैमरे में क़ैद कर लिया. फिर इत्मीनान से उठकर बोलीं, 'चल जयराम, अब आगे का सफ़र तय करते हैं. वहां भी लोग हमारा इंतज़ार कर रहे होंगे.'

लगभग दो-तीन किलोमीटर आगे बढ़े थे तो सामने से एक मोटरसाइकिल आती हुई दिखाई दी जो उनके पास आकर रुक गयी. आशा जी के कहने पर जयराम ने भी गाड़ी रोकी. एक नवयुवक बाइक से उतरा और आशा जी के सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया. वह आशा जी के रिश्ते का भतीजा लगता था. बैंगलोर की किसी आईटी कंपनी में जॉब करता था, इधर कुछ दिनों के लिए गांव आया था.

बड़ी ही विनम्रता से बोला, 'गांव में सब लोग आपका इंतज़ार कर रहे हैं. आपको आने में कुछ देर हो गयी इसलिए पिताजी ने मुझे जाकर देखने को बोला.'

'हां बेटा, गाड़ी में बैठे-बैठे पैर थक गये थे इसलिए मैंने सोचा कि थोड़ी देर बाहर उतर लिया जाए और बाहर मौसम इतना सुहाना था कि बैठे-बैठे ही बहुत समय हो गया और अगर यह जयराम मुझे नहीं जगाता तो मैं तो इन सुंदर नज़ारों में ही खो गयी थी.' इतना कहकर आशा जी अपने चिरपरिचित अंदाज़ में मुस्कुरा दीं.

वे लोग आगे बढ़े. गांव की दूरी अब लगभाग दो किलोमीटर रह गयी थी. आशा ने देखा कि पांच-सात लोगों का समूह उनकी ओर आ रहा है. पास आने पर पता चला ये सभी लोग उन्हीं के स्वागत में आ रहे थे. इनमें कुछ बच्चे भी थे. जिन्हें आशा जी ने अपनी गाड़ी पर बैठा लिया. इतने वर्षों से छूटा हुआ घर रहने लायक नहीं था इसलिए यह पहले ही तय हो गया था कि आशा जी गांव पहुंचकर कुछ दिन ग्राम प्रधान के घर में रहेंगी जो उनकी ही बिरादरी में आते थे. गाड़ी गेट के आगे रुकी. वहां पर स्वागत की परंपरागत तैयारियां पहले से ही की हुई थीं. कुमाऊनी अंदाज़ में पिठिया, अक्षत, चंदन और फूलों से सजी हुई आरती की थाली लिये हुए प्रधान जी की पत्नी सुषमा मुस्कुराते हुए वहां पर खड़ी थीं. आशा जी के उतरते ही सब लोग उनके चरण स्पर्श करने आगे बढ़े. एक समय था जब वे उस गांव की नयी-नयी बहू थीं और वे चरण स्पर्श करती थीं.

आज इतने सालों बाद वे वहां पर कई बच्चों की दादी बन गयी थीं. उनकी पिछली पीढ़ी के कई लोग तो इस दुनिया से विदा भी ले चुके थे.

इतने वर्षों से इधर आना-जाना रहा ही नहीं तो कई लोगों ने उनकी ज़मीन पर कब्ज़ा कर लिया था. कुछ वर्ष पहले जब गांव में सड़क पहुंचने की कवायद शुरू हुई तो इसके लिए भी ग्रामीणों की ही ज़मीन अधिग्रहित की गयी जिसमें आशा जी की ज़मीन का काफ़ी बड़ा हिस्सा चला गया हालांकि मुआवजा अभी तक नहीं मिला था.

अगली शाम वह प्रधान की पत्नी के साथ अपने खेतों की ओर भ्रमण के लिए निकलीं. एक पुराने टूटे हुए से मकान की ओर इशारा करते हुए प्रधान पत्नी ने बताया, 'ये लोग कई वर्षों से आपकी ज़मीन पर खेती कर रहे हैं. हमने तो कई बार मना भी किया लेकिन मानते ही नहीं.

आपको बताना चाहा था लेकिन इतने लंबे समय से आपसे कोई संपर्क ही नहीं रहा, ना कोई फ़ोन नंबर, ना कोई दूसरा माध्यम. अब आप आ गयी हैं तो ख़ुद ही इन लोगों से बात कर लेना.'

'हां सुषमा, मैं बात कर लूंगी. जल्दी क्या है, अभी तो कुछ समय रुकूंगी ही यहां.'

'अरे दीदी, आप समझेंगी नहीं इन लोगों को. पहले छोटा-सा टिन का छप्पर डाल लेते हैं, फिर उस को कब्ज़ा कर पक्का मकान बना लेते हैं'

'सुषमा इतनी चिंता ना कर. मुझे भी क्या करना है इस ज़मीन जायदाद का. राजेश जी चले गये. कुछ समय बाद मैं भी चली जाऊंगी. यह ज़मीन यहीं की यहीं पड़ी रह जाएगी.'

'पर दीदी, कोई बता रहा था कि राहुल यहां पर रिसोर्ट बनाना चाहता है.' बात काटते हुए सुषमा बोली.

'सुषमा, राहुल के पास कोई कमी नहीं. वो और उसकी पत्नी अमेरिका में ख़ूब पैसा कमा रहे हैं. दीनू की हालत देख. झोपड़ी में कितना ख़ुश है, जैसे कि राजमहल में रहता हो. अगर उसे यह झोपड़ी खाली करने को कह दूं तो सोच कहां जाएगा अपने बच्चों को लेकर. खेती से थोड़ा बहुत सब्ज़ी और अनाज उगा लेता है तो क्या बुरा है...? वैसे भी कौन जानता है, इस ज़मीन का असली हक़दार कौन है, पुराने समय में ज़मीन जायदाद की इतनी क़ीमत ही नहीं होती थी. लेकिन समय के साथ-साथ लोगों में होशियारी आ गयी. जिसे जहां पर मिल गया उसने अपना कह दिया. इस ज़मीन के असली हक़दार तो ये बेसहारा लोग ही हैं, फिर अपने ही गांव के सीधे-साधे लोग हैं, कोई ग़ैर तो नहीं.

आशा जी बिना रुके यह सब कह गयीं. फिर सुषमा के बोलने की कोई वजह ना थी. घूम फिर कर दोनों वापस घर आ गयीं.

पिछली रात तो सफ़र की थकान के कारण आशा जी खाना खाने के बाद तुरंत सो गयी थीं पर आज रात उन्हें नींद नहीं आ रही थी. आशा जी सोचने लगीं कि इतने वर्ष हो गये थे उन्हें गांव का रुख़ किये हुए. वे तो अपनी ज़मीन जायदाद के बारे में बहुत अधिक जानती भी नहीं. विवाह के कुछ समय बाद ही पति के साथ शहर चली गयी थीं और फिर कभी-कभी ही आना होता था. वह भी जब तक साथ ससुर रहे. उनके पति राजेश जी अपने माता-पिता की इकलौती संतान थे इसलिए सारी ज़मीन जायदाद पर उनका ही एकलौता अधिकार था. परंतु अपनी नौकरी की व्यवस्था और बच्चों की शिक्षा-दीक्षा की वजह से वे गांव का रुख़ कम ही कर पाए.

इसके अलावा हो ना हो थोड़ा बहुत लापरवाही भी रही. हमारे घर-गांव में सुविधाओं के अभाव ने हमारा भी उनसे मोहभंग करा दिया है. स्वतंत्रता प्राप्ति के इतने वर्ष बीत जाने के बाद भी कई गांवों में आज तक बिजली, पानी और सड़क की सुविधा नहीं है. जिसके चलते लोग पढ़ाई और रोज़गार के लिए पलायन कर ही जाते हैं. एक बार जो घर से निकल गया, उसका वापस आना मुश्किल ही हो जाता है. हां, मेहमान के तौर पर कभी-कभी उसके दर्शन घर गांव को हो जाते हैं. यही हुआ था आशा जी के पति राजेश जी के साथ भी.

बार-बार गांव आना संभव नहीं होता था तो वृद्धावस्था में माता-पिता को भी अपने ही साथ शहर में ले गये और फिर उन दोनों के देहांत के बाद तो गांव जाने का मानो कोई मकसद ही ना था.

आशा जी शुरू से ही बहुत मस्त और उदार स्वभाव की मालकिन रही थीं. पति प्रशासनिक अधिकारी थे अत: विभिन्न शहरों में आशा जी को घूमने का सुअवसर मिलता रहता था. हां, विदेश जाने की उनकी बहुत बड़ी चाहत थी. उन्होंने पासपोर्ट भी बनवाए थे. कई बार पति से इस बारे में बात भी की. वे ख़ुद भी आशा जी को विदेश घुमाना चाहते थे परंतु संयोग ही कुछ ऐसा बना कि जाना संभव नहीं हो पाया. और फिर इधर दो साल पहले राजेश जी का असामयिक निधन हो गया. आशा जी के दो बेटे विदेश में और एक बेटी चंडीगढ़ में थी. उनकी बचपन की सहेली नीरू जो दिल्ली में रहती थी, वह तो कई बार अपने बेटे के पास अमेरिका हो आयी थी. जब जाती तो तीन या छ: महीना रुक कर ही आती और लौटने पर जब फ़ोन पर आशा जी को वहां की बातें बताती तो उनका भी मन करता कि वह भी विदेश जायें और वहां की लाइफ़स्टाइल को देखें, समझें.

एक बार तो उन्होंने नीरू से वीडियोकॉल करके वहां की जगह उन्हें दिखाने को भी कहा. भोली और स्वच्छ हृदय

वाली आशा जी किसी बच्चे से कम न थीं. पति की मृत्यु के बाद वह थोड़ा गंभीर हो गयी थीं अकेलापन उन्हें खाने लगा था. उन्होंने कई बार बेटों से जिक्र भी किया था कि वे ख़ुद भी उनके पास आकर रहना चाहती हैं. परंतु दोनों ही बेटों ने कुछ ना कुछ बहाना बनाकर टाल ही दिया. राजेश जी ने रिटायरमेंट के बाद मुंबई के पास के एक उपनगर में छोटा-सा घर ख़रीदा जहां पर दोनों सानंद रह रहे थे परंतु इसी बीच ही ये अनहोनी हो गयी. बेटी और दामाद दोनों बहुत मोह रखने वाले थे. इस बीच दामाद एक दो बार उन्हें लेने के लिए मुंबई भी पहुंचे. बेटी को मां की बहुत फ़िक्र रहती थी. आशा जी कुछ दिनों के लिए वहां जातीं परंतु जल्द ही लौटने का मन बन जाता क्योंकि बेटी के सास-ससुर भी परिवार में थे. यूं तो दोनों बहुत भले इंसान थे पर आशा जी को थोड़ा संकोच होता जो स्वाभाविक ही था.

दिन में लगभग तीन बजे का समय था. आशा जी गांव के ही कुछ बच्चों को लेकर उसी रास्ते पर घूमने निकल गयीं जहां से वे कल आयी थीं. बच्चे वहां पहुंचकर खेलने लगे और आशा जी दीवार के किनारे बैठ गयीं. उन्हें चालीस-बयालीस साल पुराना समय याद आ गया. जब विवाह के बाद पहली बार डोली में बैठकर यहां आयी थीं. तब इस पक्की सड़क का नामोनिशान नहीं था. कच्ची पगडंडी से होते हुए जाना होता था. रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा था. कई बार भटकने का डर भी रहता था. आशा जी तो आगे चलने की होड़ में कई बार रास्ता भटक जातीं और चरवाहों के बनाये गये रास्तों की ओर मुड़ जातीं. फिर राजेश जी धीमे से सीटी बजा कर उन्हें पूछते, 'किधर चलीं...?' आशा जी दौड़कर वापस आती थीं और बनावटी ग़ुस्से में उनकी पीठ पर एक धप्पी देते हुए कहतीं, 'पहले नहीं बता सकते थे...?' फिर दोनों हंसते हुए आगे का रास्ता नापने लगते. आशा जी को इन टेढ़े-मेढ़े रास्तों में चलने का अनुभव कभी नहीं था परंतु वे बहुत ही ख़ुशी के साथ चलतीं क्योंकि उनके लिए यह एक नया अनुभव था. रास्ते में एक पेड़ से दूसरी में छलांग लगाते बंदर दिखते. उन्हें देख आशा जी डर कर राजेश जी से लिपट जातीं. वे इधर-उधर नज़र दौड़ाते कि कहीं किसी ने उन्हें देखा तो नहीं क्योंकि आसपास के गांवों के लोग जानवरों को चराने उसी रास्ते से आते थे और उनके लिए चारा लेकर जाते थे. तब गांव में चीड़ के पेड़ थे. गर्मियों में उनकी पत्तियां सूख कर ज़मीन पर गिर जाती थीं और उनमें चलने में फिसलन होती थी. कई बार वे उनमें फिसल कर गिर जातीं और राजेश जी सहारा देकर उठाते. ऐसी कई बातें थी जो उनके मन को गुदगुदा रही थीं. मगर राजेश जी के साथ ना होने की टीस पैदा कर रही थी.

अगले दिन सुबह वे घर से लगभग एक किलोमीटर दूर अपने खेतों की ओर गयीं जहां अपने विवाह के अवसर पर उन्होंने अपने पति के साथ बरगद का एक पौधा लगाया था जो अब एक बूढ़े वृक्ष के रूप में परिवर्तित होकर अपनी शाखाएं दूर-दूर तक फैलाता हुआ मानो कह रहा हो कि आ जाओ, मेरी आगोश में समा जाओ.

तभी अचानक यादों का एक झोंका न जाने किधर से आया. वो फिर यादों में डूब गयीं. कितना बड़ा घर-परिवार था उनका बिल्कुल इस बरगद के पेड़ की तरह. राजेश जी के माता-पिता, चाचा-चाची, ताऊ-ताई और उन सबके बच्चे. फिर कुछ वर्ष बाद ख़ुद उनके तीन बच्चे. परंतु धीरे-धीरे सब अपने अपने रास्ते चले गये किसी ने इस दुनिया से विदा ले ली और कोई इसी दुनिया में एक छोटी दुनिया बनाकर वहां व्यस्त हो गया. मगर यह बरगद आज उन बुज़ुर्गों की प्रतिमूर्ति बनकर सभी को छांव और सहारा दे रहा है और उन्हें इस बात का भी बहुत फ़ख्र था कि पूरा गांव उन्हें आदर देता है और अपने परिवार का हिस्सा मानता है. उन्होंने अपने पुश्तैनी घर की मरम्मत करवाकर यहीं रहने का फ़ैसला कर लिया. अपने पिता की मृत्यु के बाद उनका बड़ा बेटा उनसे गांव की ज़मीन के बारे में जानकारी ले रहा था. उसका इरादा वहां पर रिजॉर्ट बनाने का था. तब तो आशा जी ने उसे सहमति दे दी थी परंतु अब उन्होंने अपना मन बदल लिया था. जून का महीना था. अवसर भी उपयुक्त था अत: उन्होंने बरगद, नीम, पीपल और आंवले के कुछ और वृक्ष लगवाने की योजना बनायी ताकि गांव की हरियाली बनी रहे और पंछियों को भी बसेरा मिलता रहे. कंकरीट के जंगल शहरों में ही अच्छे लगते हैं.

जे. के. पुरम,
ई-२१ छोटी मुखानी, हल्द्वानी-२६३१३९
ज़िला-नैनीताल (उत्तराखंड)
मो.: ७९८३९३००५४

पिंजरे

| हरिप्रकाश राठी |

मुझे खुद नहीं मालूम मैं उस म्यूज़ियम में कब एवं कैसे बंद हो गया? आश्चर्य ! जाते-जाते किसी ने कोई आवाज़ भी नहीं दी कि जो अंदर हैं, बाहर चले आयें. इतना तो उनका भी फर्ज़ बनता है कि कोई बेल बजाए, आवाज़ दे अथवा फिर कहीं ऐसा तो नहीं कि मैं म्यूज़ियम के इस सेक्शन में मूर्तियां देखने में ऐसे मशगूल हुआ कि मुझे कोई आवाज़ ही सुनाई नहीं दी.

मैं एक अज्ञात भय से सिहर उठा. म्यूज़ियम सात बजे बंद होता था हालांकि दिसंबर की सर्दियों में सात बजते-बजते रात हो जाती है. मैंने नज़रें घुमायीं, मूर्ति वाले सेक्शन में पांच वाट का मर्करी बल्ब जल रहा था जिसकी धीमी रोशनी म्यूज़ियम में चांदनी रात की मानिंद फैली हुई थी. तक़रीबन ऐसे ही कुछ अन्य बल्ब यहां-वहां कुछ दूरी पर जल रहे थे. मैंने दूसरे स्विच ऑन किये पर बत्ती नहीं लगी. शायद ये बल्ब जो जल रहे थे बैटरी ऑपरेटेड होंगे जो मेन स्विच बंद करते ही जल जाते होंगे.

मैंने जेब में हाथ डाला, मोबाइल नहीं था. मैंने सर पीटा, अरे! मोबाइल ठीक करवाने ही तो दोपहर चार बजे घर से निकला था. रास्ते में मोबाइल शॉपी पर इसे बताया तो दुकानदार ने कहा इसे ठीक करने में दो-ढाई घंटे लगेंगे. अब दो घंटे कैसे पास हों? यहां से आगे एक कि.मी. तक सूना था. इसके बाद शहर का म्यूज़ियम था जिसके आधे हिस्से में वाचनालय एवं बाक़ी आधे हिस्से में म्यूज़ियम था. यकायक मेरे दिल में म्यूज़ियम देखने का ख़्याल आया. मैं यहां आया, टिकट लिया एवं भीतर आ गया. मैनेज़र ने मुझे कहा भी कि आज मैं अकेला हूं, अर्दली एवं दोनों क्लर्क छुट्टी पर हैं, आप यथासमय आ जाना. मैं नहीं भी पहुंचा तो क्या उसने इतना भी पता नहीं किया कि भीतर कोई रह

जन्म : ५ नवंबर १९५५, जोधपुर.
शिक्षा : एम. कॉम., सी. ए., आई. आई. बी.
१०० से ऊपर कहानियां विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित. आकाशवाणी पर २५ से अधिक कहानियां प्रसारित. पत्रकारिता से भी जुड़े हैं. संपादकीय पृष्ठ पर विगत दस वर्षों में ५०० से अधिक लेख. कुछ कहानियां राजस्थानी, अंग्रेजी, संस्कृत, सिंधी, मराठी में अनूदित. 'कथाबिंब' पत्रिका द्वारा कमलेश्वर स्मृति कथा पुरस्कार-२०१८ से अलंकृत. अन्य अनेक संस्थानों द्वारा सम्मानित.
प्रकाशन - दस कथा-संग्रह, तीन निबंध संग्रह.

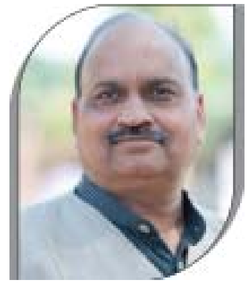

तो नहीं गया है. वैसे भी आधा बावला लग रहा था, बड़ी बात नहीं चढ़ा भी रखी हो.

मेरी छाती फटने लगी. बदहवास मैं मुख्य दरवाज़े तक आया. आठ बजने को थे. मैं जोर से चिल्लाया, 'मैं अंदर हूं. कोई है?' कोई रिस्पांस नहीं मिला. मैं मैनेज़र के कमरे के समीप आया, वहीं खिड़की के एक सुराख से देखा, वहां टेलीफ़ोन तो था पर कमरे के मोटे दरवाज़े के बाहर एक आयताकार लोहे का ताला लटक रहा था. यह ताला भी जैसे कोई दो-तीन सौ वर्ष पुराना था. अब यह लगभग असंभव था कि मैं बाहर निकल पाऊं. मेरा ख़ून सूख गया, हाथ पांव फूल गये. अब एक रात की क़ैद तय थी.

हताश मैं वहीं दरवाज़े के पास रखी एक लंबी बेंच पर लेट गया. खुदा का शुक्र था मैं कोट एवं टोपी पहनकर निकला था अन्यथा सर्दी में कुल्फी जम जाती. मैं सोचने लगा कि अब क्या किया जा सकता है?

वो तो अच्छा है सुरेखा बच्चों के साथ शैक्षिक भ्रमण पर गयी हुई थी अन्यथा समय पर न पहुंचने पर वह घर सिर पर उठा लेती.

अत्यधिक विकट स्थितियों में मनुष्य का हौसला कभी-कभी आश्चर्यजनक रूप से बढ़ जाता है हालांकि कई तरह की आशंकाएं मुझे घेरने लगी थीं जैसे सुबह दरवाज़ा खुलते ही अर्दली मुझे चोर न समझ ले और मेरी नाहक ठुकाई हो जाये. फिर याद आया वह तो छुट्टी पर है, खोलेगा तो मैनेज़र ही एवं वह तो बावला है, चलो उसे भी जस-तस मैनेज़ करूंगा, यह सोचकर मैं पड़ा रहा. हो सकता है ये दोनों न आयें, स्वीपर ही सुबह जल्दी आकर दरवाज़ा खोल ले. ख़ैर! इन सारे विकल्पों पर खोपड़ी पकाने की बजाय ज़रूरी यह था कि मैं यह सोचूं कि अब किया क्या जाए? तभी एक विचार आया कि यह छोटे शहर का म्यूज़ियम है क्यों न एक बार वाचनालय एवं म्यूज़ियम को पुनः ध्यान से देखूं. इसी बहाने मैं मनुष्यता के इतिहास की यात्रा कर लूंगा. म्यूज़ियम देखना अतीत भ्रमण ही तो है. बीते समय में विचरना, तत्कालीन समय की कला-शिल्प-संस्कृति के बारे में जानना कितना रोमांचक अनुभव होगा. सरसरी निग़ाह से देखने एवं धीरे-धीरे समझ कर देखने, हृदयंगम करने में ज़मीन-आसमान का फ़र्क होता है. ऐसा दुर्लभ अवसर भी तो कभी-कभार सौभाग्य से मिलता है. ऐसा सोचते ही मुझे मेरे पिता का स्मरण हो आया जो बहुधा कहते थे — सुख दुःख को नये सिरे से सोचने के अतिरिक्त कुछ नहीं है. चिंतन के एक पहलू पर आप दुखी हैं, भयभीत हैं, आशंकित हैं जबकि उसी समस्या में अन्य प्रकार से सोचने में आप सुखी हैं, सुकून में हैं, कम से कम बेहतर तो हैं ही. अंधेरा दिया जलाने से दूर होता है.

अब मैं एक अभिनव संकल्प के साथ उठ खड़ा हुआ. पहले वाचनालय की ओर जाना ही उचित होगा.

मैं वाचनालय की ओर बढ़ा, यहां भी उसी दूरी पर पांच वाट के बल्ब जल रहे थे. इतना भर प्रकाश तो था ही कि मैं पुस्तकों के टाइटल देख सकूं, प्रयास करने पर बल्ब के नीचे बैठ पुस्तक भी पढ़ी जा सकती थी. वाचनालय में साहित्य की पुस्तकें थीं, राजनीति, धर्म एवं अन्य विषयों पर भी अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकें यहां रखी थीं. वाचनालय बहुत बड़ा नहीं था पर इसमें देश-विदेश के असंख्य लेखकों की

नयी-पुरानी, गत अनेक सदियों की पुस्तकें एवं ग्रंथ आदि रखे थे. ओह! इन लेखकों ने मनुष्यता की अंधेरी राहों को रोशन करने के लिए कितने चिराग जलाए पर आश्चर्य आज भी कितना अंधेरा है.

यह सोचते-सोचते मैंने सामने ड्रावर में रखी एक पुस्तक 'प्रेमचंद की श्रेष्ठ कहानियां' निकाली. प्रेमचंद मेरे पसंदीदा लेखक थे. उनके कथा-संग्रह, उपन्यास मैंने कॉलेज़ के दिनों में ख़ूब चाव से पढ़े थे. उनके उपन्यास कर्मभूमि, गोदान, गबन एवं कतिपय अन्य उपन्यासों के कथानक, प्रस्तुति इतनी जीवंत थी कि ये उपन्यास अब भी जब कि मैं चालीस पार हूं, भुलाए नहीं भूलते. उनकी कहानियां तो एक से बढ़कर एक थी. कफ़न, पूस की रात, सद्गति, बूढ़ी काकी आदि कहानियों को कोई क्या एक बार पढ़कर भुला सकता है? यही सोचकर मैं पुस्तक अनुक्रमणिका देखने लगा. क्या ही अच्छा हो एक बार इन कहानियों को पुनः पढ़ा जाए तो एक पंथ दो काज की तरह कॉलेज़ के दिनों की याद ताज़ा हो जाएगी एवं इसी बहाने यह पूस की एक और सर्द रात निकल जाएगी.

मैंने पुस्तक निकाली एवं अनुक्रमणिका तक पहुंचा ही था कि सामने एक दृश्य देखकर हैरान रह गया. मुझसे कुछ क़दम दूरी पर साक्षात प्रेमचंद खड़े थे. ओह, उनका कैसा सौम्य रूप था. अच्छे लंबे थे. वे खादी का चोला एवं धोती पहने थे. चोले के ऊपर खादी के ही बटन लगे थे एवं वे चुपचाप खड़े थे. नीचे पांव में फटे जूते थे जिनमें आगे से उनका अंगूठा झांक रहा था. अभी कुछ दिन पहले ही मैंने उनका ऐसा ही एक चित्र देखा था जिसमें जूते के आगे से उनका अंगूठा दिख रहा था. इतने महान लेखक का यह चित्र देख मैं गंभीर हो गया था.

प्रेमचंद को सामने देख मैं ऊपर से नीचे तक पसीने में नहा गया, कांपते हुए बोला, 'आपका तो वर्षों पूर्व स्वर्गवास हो गया था, आप यहां कैसे?' मुझे देखकर वे बोले, 'मैं मर गया तो क्या, मेरी पुस्तकों में आज भी ज़िंदा हूं. इतना ही नहीं जब-तब इनमें से निकलकर बाहर भी आ जाता हूं. फिर यकायक वे उदास एवं गंभीर होकर बोले, 'इन पुस्तकों को लिखने के लिए मैंने अपने कलेजे का ख़ून निचोड़ा है. रातों लालटेन की रोशनी में अपनी नींदें ख़राब कर इनकी सर्जना की है. आसमान के चांद-तारे मेरी उन रातों के गवाह हैं.

तत्कालीन समाज में मेरा तीव्र विरोध भी हुआ पर मैं सत्य से विमुख नहीं हुआ. मेरी श्मशान यात्रा में बीस लोग भी नहीं थे. मैं लिखते हुए बस यही सोचता था कि समाज के नकारे गये वर्ण एवं वर्ग के लोगों पर होने वाले पैशाचिक ज़ुल्म कम हों, समाज की कुरीतियां, आडंबर हटें, स्त्री को सम्मान मिले एवं लेखक मशाल बनकर समाज की अंधेरी गलियों को रोशन करे. यह जानकर दुःख होता है कि आज भी समाज के इन वर्गों पर अन्याय एवं अत्याचार कम नहीं हुआ है. आज भी इस देश के अधिसंख्य लोग ग़रीबी रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहे हैं. आज भी देश भ्रष्टाचार के दावानल में जल रहा है. मेरे 'नमक का दरोगा' कहानी लिखने का फिर क्या फ़ायदा हुआ? मैंने तो यह तक सुना है कि वर्ष दर वर्ष स्त्रियों पर ज़ुल्म के आंकड़े, बलात्कार बढ़ रहे हैं. मेरी 'ईदगाह' की क्या यह परिणति होगी कि बच्चे मां-बाप से वृद्धावस्था में सब कुछ छीन लें यहां तक कि उन्हें वृद्धाश्रम छोड़ आएं. मनुष्य का क्या इतना पतन हो गया है? जिन नीतियों एवं आदर्शों को मैंने अपनी कहानी का बिंब बनाया आगे के साहित्यकारों ने उसे कैसे भुला दिया? क्या उन्हें यह भी नहीं पता कि बिना मर्यादा, लक्ष्मण रेखा के समाज गर्त में चला जाएगा? मज़बूत नींव के बिना क्या इमारत खड़ी हो सकेगी? क्या यही प्रगतिशीलता है कि फूल से खुशबू निचोड़कर कुचले, निर्गंध पुष्प समाज को अर्पित कर दिये जाएं? साहित्यकार ये कैसे भूल गये कि समाज की गौरव-पताका में वे दंड के समान हैं?' कहते-कहते उनकी आंखें लाल होने लगीं. मैंने मन ही मन कहा, 'प्रेमचंदजी! जिसे कहना है कहो, मैं तो मात्र आपका पाठक हूं. मेरी ऐसी-तैसी क्यों कर रहे हो?

एक तो पढ़ो फिर सुनो भी. आप बेवजह किसी और का दंड मुझ फकीर को क्यों दे रहे हो? वैसे भी आज कल साहित्य पढ़ने वाले अंगुलियों पर रह गये हैं.' भयभीत मैंने उनकी पुस्तक बंदकर ड्रावर में रख दी. आश्चर्य ! मेरे पुस्तक रखते ही वे ग़ायब हो गये. यह तो गज़ब बात हुई. क्या लेखकों की आत्मा मरणोपरांत उनकी पुस्तकों में समा जाती है? मुझे आश्चर्य इस बात का भी था कि मैं अनेक

बार जब पुस्तकें पढ़ता एवं किसी बिंदु पर उद्वेलित होता तो मन में एक विचित्र हूक उठती थी, काश! मैं इस लेखक से प्रत्यक्षतः मिल पाता लेकिन आज तो यह साक्षात घटित हो रहा था.

प्रेमचंदजी के ग़ायब होने के कुछ क्षण पश्चात मेरा भय कुछ कम हुआ लेकिन माथे पर अब भी पसीने की बूंदें थीं. मैंने रुमाल निकालकर पसीना पोंछा. मुझे समझ आ गया कि आज मैं फंस गया हूं पर अब विकल्प क्या था? समय तो निकालना होगा. मुझे लगा भारतीय लेखकों को छोड़ो. ये जीते जी तो भूत की तरह घूमते ही हैं मरने के बाद भी भूतयोनि में ही विचरते हैं.

मैं थोड़ा आगे बढ़ा एवं इस बार विदेशी लेखकों के वर्ग से टॉलस्टॉय की विश्वविख्यात कृति 'एनाकरैनिना' निकाली. मानव मनोविज्ञान, प्रेम एवं पारिवारिक रिश्तों के उतार-चढ़ाव पर यह एक अद्भुत उपन्यास था. मैंने इसे पांच वर्ष पूर्व पढ़ा था. इसे खोलते ही सामने टॉलस्टॉय प्रकट हो गये. ऊंचा क़द, तीखी नाक, हल्की भूरी नीलिमा लिये आंखें, प्रशस्त ललाट एवं ऊनी चोगा पहने उनका व्यक्तित्व असाधारण लग रहा था. वे भी रोष में भरकर बोले, 'अभी-अभी मैंने प्रेमचंद को सुना. उनका क्रोध स्वाभाविक है.'

आज लेखक मद-मान के बीहड़ वन में खो गया है. उसे क्या पता ये पुस्तकें कितनी रातें काली कर लिखी गयी हैं? खाने-पीने तक की सुध नहीं रहती थी. इन्हीं कथानकों को हृदय में लिये अनेक बार हम बावलों की तरह घूमते रहते थे. संभ्रांत एवं कुलीन परिवार से होते हुए भी मैंने समस्त जीवन लेखन एवं समाजसेवा को अर्पित कर दिया. वर्षों साधना कर ये उपन्यास, कहानियां लिखीं पर मनुष्य चिकने घड़े की तरह आज भी वैसा का वैसा है. आज लेखक, कलाकार भी उत्कृष्ट सृजन की बजाय पागलों की तरह धन, पद एवं पुरस्कारों की तरफ़ दौड़ रहे हैं.' जाने क्या सोचकर वे यकायक चुप हो गये. वे रशियन लेखक होते हुए भी निर्बाध हिंदी में बोल रहे थे. यह कैसे संभव है? शायद प्रेमचंदजी ने सिखा दी होगी.

मैं चौंका, मुझे उनके प्रश्न का उत्तर देना था. वे मेरी ओर देख रहे थे.

'तो आप साहित्यकारों को समझाइए ना! उनकी पगड़ी उनके हाथ है. पाठकों के पीछे क्यों पड़े हैं? आप तो प्रेमचंदजी की तरह मेरी ही क्लास लेने लग गये. एक तो पहले से शामत सर पर है ऊपर से आप नीले-पीले हो रहे हैं. आपकी बात क्या मैं साहित्यकारों को समझाऊंगा कि स्वांग भरने से न अपना भला होता है न समाज का? वे किसी की सुनते हैं क्या?' कहते हुए मैंने उनका उपन्यास भी पुनः ड्रावर के हवाले किया. वे भी क्षणभर में रफ़ूचक्कर हो गये.

अब मेरे हाथ में गांधी की 'सत्य के प्रयोग' पुस्तक थी एवं मेरे सामने बापू खड़े थे. उनके चारों ओर दिव्य ओज था. मुझे देखते ही वे मुस्कराए, वे कुछ कहने ही वाले थे कि मैं फट पड़ा, 'बापू! मुझे पता है देश की दुर्दशा आपसे छिपी नहीं है. जिन मूल्यों के लिए आपने स्वातंत्र्य यज्ञ में अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया, वे मूल्य ही आज अंधकूप में जा गिरे हैं. नेता भ्रष्ट एवं रक्षक भक्षक हो गये हैं. आपकी लकड़ी-बकरी ठग उठा ले गये हैं. मेरी तो आपसे आंख मिलाने की भी हिम्मत नहीं है. जिस सत्य के प्रयोग की बात आप कर रहे थे उसे तो राजनेताओं ने रसातल में पहुंचा दिया है. करनी कौए की एवं वेश हंस के हो गये हैं. बापू लेकिन इसमें मेरा कोई दोष नहीं है. जो जैसा करेंगे वैसा भरेंगे.' ऐसा कहते हुए मैंने बापू की पुस्तक भी ड्रावर में रख दी. मैंने सुना था साहित्यकार, समाजसेवियों एवं राजनेताओं को अधिक छेड़ना ठीक नहीं है. ये सभी कुछ-कुछ सनकी होते हैं.

अब मैं धार्मिक सेक्शन में आया. यहां गीता, महाभारत एवं वाल्मीकि रामायण के सभी खंड, योग वशिष्ठ एवं तुलसी की रामचरित मानस आदि पुस्तकें रखी थीं. मैं नित्य मानस का पारायण करता था. मैंने सावधानी एवं श्रध्दा से मानस बाहर निकाली. अब तुलसीदासजी सामने थे. माथे पर वैष्णवी तिलक एवं सर पर बांधी हुई शिखा से वे ऐसे लग रहे थे जैसे साक्षात देवपुरुष खड़ा हो. उनकी प्रभा, औरा देखते बनती थी. मैंने उन्हें जयरामजी कहा तो उन्होंने भी ऐसा ही कहकर मुझे चिरायु होने का आशीर्वाद दिया. घबराहट मिटाने के लिए मैंने बात छेड़ी, 'आपके राम नाम की महिमा अब अनंतगुनी हो गयी है एवं इसमें आपकी मानस का अहम योगदान है.' इतना सुनते ही उनका चेहरा

गर्व से आपूरित हो गया. लेकिन मैंने उन्हें आड़े हाथों लिया, 'इतना गर्व भी न करिए, आपके राम नाम ने अनेक बार सांप्रदायिक दंगों की जलती आग में घी का काम भी किया है. इन दंगों में कितने निर्दोष मारे गये हैं.' यह प्रश्न अक्सर मेरे दिमाग़ में कुलबुलाता था कि धर्म का उद्भव मनुष्यता के सुख, सुकून एवं शांति के लिए हुआ है फिर धर्म के नाम पर हिंसा का तांडव क्यों? स्वयं तुलसी से बेहतर इसका उत्तर कौन दे सकता था.

मेरी बात सुनकर वे गंभीर हो गये, मेरी ओर देखकर बोले, 'मैंने तो सगुण राम को मात्र भक्ति का बिंब बनाया ताकि जनमानस में रामकथा के माध्यम से भक्ति की सरिता बह सके, लोग निर्मल होकर प्रेम के भाव से भरें. मेरे सगुण राम तो उस परम प्रकाश के ही प्रतिनिधि थे जो अजन्मा, निर्गुण एवं निराकार है.

मैंने हर प्रसंग में सगुण राम के साथ निर्गुण को भी उतना ही प्रतिष्ठित किया है. अगुनहिसगुनहि नहीं कछु भेदा, नाना भांति राम अवतारा-रामायण सतकोटिअपारा, राम अनंत अनंतगुन अमित कथा विस्तार, नाथ राम नहीं नर भूपाला-भुवनेश्वर कालहु कर काला आदि-आदि मानस की ही तो चौपाइयां हैं जो निर्गुण को सिरे से प्रतिष्ठित करती हैं. जब सगुण-निर्गुण एक ही है एवं हम सब उस एक परमपुरुष परमात्मा की संतानें हैं तो फिर कैसा युद्ध? कैसा मतभेद? क्या पानी और बर्फ में कोई भेद है? क्या आग और लकड़ी अलग-अलग है? ओह, मदांध भक्तों ने मेरी मानस का सार-तात्पर्य नहीं समझा.' कहते-कहते करुणा विह्वल उनकी आंखों से आंसू बह गये.

मुझे लगा इन कारुणिक स्थितियों में बात बढ़ाना उचित नहीं है. मैंने मानस पुनः ड्रावर में डाली एवं आगे बढ़ गया. अब मेरे हाथ में प्रसिद्ध मनोविद फ्रायड की विश्वविख्यात कृति 'साइकोपैथोलॉजी ऑफ़ एवरीडे लाइफ़' थी. इस पुस्तक ने उनकी अन्य पुस्तकों की तरह मानव मन की परतें उघाड़ दी थीं.

फ्रायड अब मेरे सामने थे. उनके चेहरे पर भी टॉलस्टॉय की तरह दाढ़ी थी हालांकि यह दाढ़ी टॉलस्टॉय जितनी लंबी नहीं थी. चेहरा-मोहरा क़द भी टॉलस्टॉय जैसा ही था. मैं कुछ कहता उसके पहले वे बोल पड़े, 'मनुष्य की सुप्त, दमित इच्छाओं की व्याख्या करते हुए मैंने कभी कहा था — हमारा मन समुद्र में तैरते विशाल हिमखंडों की तरह होता है जिसमें एक तिहाई चेतन मन ऊपर होता है लेकिन अधिक शक्तिशाली दो तिहाई मन नीचे होता है...' इतने महान ज्ञान को पचाना मेरे लिए कठिन था, मैंने इस पुस्तक को भी पुनः ड्रावर में रख दिया.

मैं जिस लेखक की पुस्तक निकालता वह मेरे सामने आ खड़ा होता. मैं किस-किस से प्रतिवाद करता? मैं चुपचाप वाचनालय क्रॉस कर गैलरी से होकर म्यूज़ियम में आ गया.

यहां मैंने एक ममी देखी. शायद मिस्र के किसी म्यूज़ियम से यहां आयी होगी. ममी एक कांच के बड़े बॉक्स में बंद थी. मैंने मन ही मन सोचा, ओह! यह ममी भी कभी मेरी तरह मनुष्य रही होगी. मैं तो साधारण व्यापारी हूं ये तो राजा रहा होगा. मैंने ममी के बाहर लिखा विवरण देखा, मेरा अनुमान सही निकला. ये किसी राजा की दो हज़ार वर्ष पुरानी ममी थी. तब इसके क्या ठाट-बाट रहे होंगे पर काल को कौन लांघ सका है? आज वही शरीर जो कभी राजा था, महत्वहीन होकर पड़ा है. हम और हमारा जीवन कितना क्षणभंगुर है, मनुष्य फिर किस कारण इतने दंभ एवं अहंकार में जीता है. मैं ऐसा सोच ही रहा था कि ममी में कुछ हरकत हुई. कुछ अप्रत्याशित घटे उसके पहले मैंने यहां से भी किनारा किया. मैं भी कभी-कभी सोचता था — काश! मैं राजा होता पर इस ममी ने तो मूड ख़राब कर दिया. आगे पुराने बर्तन, सोने-चांदी के आभूषण रखे थे. ओह! ये जेवर कभी विभिन्न महिलाओं की अमानत रहे होंगे, वे इन्हें पहनकर गर्व करती होंगी पर आज म्यूज़ियम की अमानत हैं. जगत में फिर अपना क्या है? मनुष्य फिर किसका - मेरा मेरा करता फिरता है.

यहां से चलकर मैं मूर्तिवाले सेक्शन में आया. राजस्थानी पत्थरों में गढ़ी ये मूर्तियां कितनी मनभावन थीं. इस सेक्शन में दस नृत्यांगनाओं की मूर्तियां थीं जो लगती तो एक-सी थीं पर सबमें किंचित अंतर था. सभी मूर्तियां तत्कालीन स्थापत्य कला का नायाब नमूना प्रस्तुत कर रही थीं. यह सभी १४-१५वी शताब्दियों के मध्य की थीं मूर्तियों का शिल्प मुंह चढ़कर बोलता था. ये नृत्यांगनाएं नख-शिख

राजस्थानी आभूषण पहने हुए थीं. सिर पर बोर, नाक में नथ, कान में झुमके, मणिखचित कंठहार, बाजूबंद, कमर पर करधनी, पैरों में पायजेब... मानो मूर्तिकार ने जीवित रूपसी यौवनाओं को सांचे में ढाल दिया हो. मैं दूर खड़ा इन मूर्तियों को देख ही रहा था कि मूर्तियों में जुम्बिश हुई एवं वे सभी एक-एक कर जीवित हो उठीं. इन नृत्यांगनाओं का रूप-लावण्य देखते बनता था. ऐसा लगता था जैसे साक्षात स्वर्ग की परियां ज़मीन पर उतर आयी हों, मुझे देखते ही उन्होंने एक राजस्थानी गीत 'खेलण दो गणगौर... भंवर मानैपूजण दो गणगौर...' गाना प्रारंभ किया एवं वहीं मेरे चारों ओर वर्तुलाकार घूमने लगीं.

राजस्थानी गीतों में यह गीत मुझे सर्वाधिक पसंद था. आज मानो मेरी कल्पना मूर्त होकर सम्मुख खड़ी थी.

कुछ देर बाद इनमें से एक नृत्यांगना जो इन सबसे अधिक ख़ूबसूरत थी, ने रुककर मुझे इस तरह देखा जैसे चकोरी चंद्रमा को देखती है. कुछ क्षण बाद वह हंसिनी की तरह चलकर आगे आयी एवं मुझे आंखों के इशारे से गलियारे में आने को कहा. उसके इशारा करते ही अन्य मूर्तियां जाने क्या भांपकर पुन: पाषाण में समा गयीं.

अब वह परम सुंदरी यौवना और मैं आमने-सामने थे. उसका सौंदर्य ऐसा था मानो रूप के घर में दीये की लौ जल रही हो. ऊंचा क़द, तीखी नाक, लंबे काले केश, गूंथी हुई चोटी, गहरी काली आंखें, गदराए उरोज, ऊंचे नितंब तथा नीचे पांवों में चांदी की रुनझुन पायल उस पर ख़ूब फब रही थी. आश्चर्य! वह हूबहू उस स्त्री जैसी थी जिसका चित्र मैं मेरे एकांतिक क्षणों में अपनी हृदयभित्ती पर उतारता था. मैंने यह बात किसी को यहां तक कि सुरेखा को भी कभी नहीं बतायी पर आज तो वह साक्षात सामने जीवंत खड़ी थी.

'मैं यहां हूं. आप कहां खो गये?' उसकी कोयल जैसी आवाज़ ने मेरे कानों में अमृत घोल दिया. मैं उत्तर देता उसके पहले वह बेख़ौफ़ आगे बढ़ी एवं अपने हाथ जिन पर बाजूबंद की लड़ियां लटक रही थीं एवं आगे चूड़ियां खन-खन कर रही थीं, मेरे गले में डाल दिये. यह अंधे के हाथ बटेर लगने जैसी बात थी. मैंने इधर-उधर देखा, मन में आशंका थी कहीं प्रेमचंदजी, गांधीजी अथवा तुलसीदासजी देख न लें.

तभी वह नृत्यांगना मेरे और क़रीब आकर कानों में होले से बोली, 'मैं तुम्हारी हूं, सिर्फ़ तुम्हारी. मैं जानती हूं मैं तुम्हारी कल्पनाओं की रानी हूं. आज फिर अवसर मिला है तो मुझे भोग क्यूं नहीं लेते? ऐसा नैकट्य, रतिसुख तो बड़े-बड़े पुण्यात्माओं को भी दुर्लभ होता होगा.'

आग से आग भड़कती है. मेरा नशा सर चढ़ गया. मैंने उसका चेहरा अपने हाथों में लिया एवं उस पर चुंबनों की बौछार कर दी. मैंने उसकी पेशानी, बरौनियां, आंखों को पुन: पुन: चूमा, कानों एवं गालों को सहलाया एवं फिर उसके गुलाबी दहकते होठों पर एक गहरा चुंबन जड़ दिया. उसकी गरमाहट, सांसों का उतार-चढ़ाव, मुंह से निकलने वाले उह-ओह जैसे मादक शब्द मेरी कामाग्नि को हवा दे रहे थे. अब मेरी नज़र उसके मस्त उरोजों पर थी. मैं दोनों हाथ उसकी कमर के पीछे तक ले गया एवं दाएं हाथ से कांचली की डोरी खींच ही रह था कि बारिश आ गयी... मैं हैरान रह गया... इस बंद कमरे में बारिश...?

मैं घबरा गया. कोई मेरे चेहरे पर लौटे से पानी छिड़क रहा था.

मैं हड़बड़ाकर उठा. सामने झाड़ू लिये स्वीपर तेज़ आवाज़ में मुझे उठो... उठो कहकर जगा रहा था.

मैंने उसकी ओर रोषपूर्ण दृष्टि से देखा तो वो बोला, 'बाबूजी! आप गहरी नींद में थे अतः पानी छिड़कना पड़ा. रात शायद आप यहीं बंद हो गये थे.'

मैं बेंच से उठा. अब मुझे समझ आया रात बेंच पर लेटे-लेटे मेरी आंख लग गयी थी. मैंने वहीं नीचे रखे जूते पहने एवं चुपचाप बाहर पार्किंग में रखे स्कूटर की ओर बढ़ गया.

आज मैंने स्वप्न में वह सब देखा जो मैं अपनी कल्पनाओं में देखा करता था. अवसर पाते ही ये कल्पना-खग पिंजरे से बाहर आकर उड़ गये.

स्वप्न में ही तो हमारे अवचेतन मन के पिंजरे खुलते हैं.

फ्रायड ने रात ठीक ही कहा था.

सी-१३६ प्रथम विस्तार,
कमला नेहरू नगर, जोधपुर (राज.)
मो. : ९४१४१३२४८३
E-mail: hariprakashrathi@yahoo.co.in

मीरा की बिखरी यादें

| सीमा जैन 'भारत' |

'मुझे तीन दिन के लिए बैंगलोर एक मेडिकल कॉन्फ्रेंस में जाना है.'

'चली जा, अना को मेरे पास छोड़ जाना.'

'अना को तो तू संभाल ही लेगी पर तेरी शादी...'

'तेरी शादी के नतीज़े हम मिल कर ही भुगत रहे हैं, फिर भी...'

'तेरी शादी भी मेरे जैसी ही हो यह तो ज़रूरी नहीं!'

'फिर भी अभी तो नहीं...'

'यार, फिर कब? तुझे पता है हर दूसरे दिन आंटी का फ़ोन आता है. तेरे लिए रिश्ते भी आ रहे हैं. नहीं तो तू अपनी पसंद...'

'बस कर यार, यह नहीं झेला जायेगा.'

'आज बताना पड़ेगा क्या कारण है? हर इंसान एक उम्र के बाद शादी कर ही लेता है।'

'क्यों करता है? उसके पहले यह सवाल ज़रूर करना चाहिए!'

'सब करते हैं!'

'तो सब गड्ढे में गिर रहे हैं तो हम भी...'

'यही समझ ले...!'

'नहीं, इसका नाम शादी नहीं है ये तो एक बेरोज़गार लड़की की मज़बूरी हो सकती है कि अब उसका परिवार उसके ख़र्चे नहीं उठा सकता है. या फिर एक सेल्फ़डिपेंडेंट लड़की की नासमझी कि वो यह ही नहीं जानती कि वो एक अनजान के साथ अपना जीवन क्यों शुरू कर रही है? जो भी हो ऐसी शादी नहीं हो पायेगी मुझसे! बिना प्रेम या इच्छा के.'

'तू बोल ना मीरा... कोई बात है...? इस सोच के पीछे कोई तो है.'

'हां... है.'

'क्या..., बेवकूफ़ अभी तक बोला क्यों नहीं! हम बैंड लेकर चले जाते.'

शिक्षा : बी. एससी., एम. ए., टेक्सटाईल डिज़ाइनिंग डिप्लोमा.
कार्यक्षेत्र : स्वतंत्र लेखन, आकाशवाणी ग्वालियर में कार्यरत, अपना व्यवसाय.
लघुकथाएं, कहानी, आलेख और कविताएं समाचार-पत्र व पत्रिकाओं में प्रकाशित.
एक लघुकथा संग्रह 'लम्हों की गाथा' (भोपाल साहित्य अकादमी से प्रकाशित); उपन्यास
'पहले क़दम का उजाला', 'आंचल में धूप'; यात्रा वृत्तांत 'हिमगिरि की दिव्यसुगंध'

'बोलने या बताने जैसा कुछ भी नहीं है.'

'क्यों, शाहरुख़ ख़ान या अमिताभ बच्चन है क्या?'

'चुप... सिल्वर स्क्रीन नहीं, बदनावर की बात है.'

'दस-पंद्रह साल से भी पहले? जब तेरे दादा-दादी वहां थे.'

हां, तब मैं नाइंथ में थी. गांव में हर बुधवार को हाट लगता था. आसपास के इलाक़ों के लोग अपनी सब्ज़ी, अनाज, पशु, खेती का सामान बेचने-ख़रीदने आते थे. तब गर्मी की छुट्टियां मार्च से जून तक होती थीं. हम तीन महीने के लिए दादी के पास जाते थे.

उस दिन भी बुधवार ही था. हमारे घर के बाहर ही पूरा हाट बाज़ार लगता था. लोग हमारे और आसपास के लोगों के घरों के ओटले पर दिन भर बैठे रहते थे. बरगद के पेड़ के नीचे हमारा ओटला था. उस दिन शाम के समय लोगों के जाने के बाद मैं झाड़ू लगाने बाहर गयी थी. कुछ लोग बैठे थे. मैंने उनसे कहा — 'मुझे झाड़ू लगानी है. आप दूसरे ओटले पर बैठ जाओ.'

'बिटिया, बस थोड़ी देर रुक जा. आणि सामान ने बांध ले. म्हारो पोतो आई रियो है. विका साथ ही अठे से जाएंगे.'

उनके साथ एक बूढ़ी औरत भी थी. उन्होंने उसे देखकर कहा — 'ऊबी हो, चल सामान हटा इठे से.' अचानक मुझे लगा मैंने नाहक ही इन बुज़ुर्गों को परेशान किया है. मैंने कहा — 'आप बैठे रहो! जब पोता आये तब ही...'

'ऐ ले, यो प्रताप अई ग्यो!'

'वो प्रताप ऐसा मन में बैठा कि... हाथ में झाड़ू लिये मैं उसे कब तक देखती रही, यही याद नहीं... मैं जम गयी थी. प्रेम पहली नज़र में ही होता है. यह उस दिन साबित हो गया था.

बहुत बड़ी काली आंखें, कितनी बोलती हुई ... भेदती हुई, कुछ कहती हुई. बहुत मस्ती, नशा था उन निग़ाहों में. जब भी याद करूं तो लगता है बोल उठेंगी. मैंने ऐसी आंखें फिर कभी नहीं देखीं. धोती-कुर्ता और सर पर पगड़ी बांधे कोई इतना आकर्षक लग सकता है कि उसे हम अपलक देखते ही रहें...?'

उसके दादाजी की आवाज़, 'बिटिया, हम जई रिया हैं.' मैं उसके बाद हर बुधवार और शाम तक ही सिमट गयी थी. झाड़ू हाथ में लिये बग़ैर तो जा ही नहीं सकती थी. आज याद करूं तो आश्चर्य होता है, वह क्या सोचता होगा? कभी भी किसी के मुंह से एक शब्द नहीं निकला. पर उस बुधवार के बाद अगले तीन साल तक मार्च से जून तक हर बुधवार प्रताप अपने दादा-दादी को हमारे ही ओटले पर बिठा कर जाता था. बस यही एक संकेत था मेरे लिए की शायद वह भी...'

'पागल, अब क्या बोलूं? कैसे ढूंढ़ें तेरे प्रताप को?'

'ज़रूरी ही नहीं है. कोई नहीं समझ पाएगा मैं उन निग़ाहों के साथ जीकर कितनी ...'

'एक बार ढूंढ़ने की कोशिश तो की जा सकती है. क्या पता तेरा प्रताप भी ...'

'चुप ... अब इन बेवकूफ़ियों के लिए समय नहीं है. किसी की ज़िंदगी में आग नहीं लगा सकते हैं.'

'पता नहीं वो भी इसी आग में जल...'

'बिल्कुल नहीं, अपना और किसी का तमाशा नहीं बनाना है ...कल के अहसास सिर्फ़ मेरा सरमाया है. किसी दूसरे के पास इसके लिए क्या सोच है? इन सब बातों का

वक़्त अब नहीं रहा. वो किस गांव से आते थे, मैं यह भी नहीं जानती.'

'आज के ज़माने में लोग प्रेमी को स्टेपनी की तरह बदलते और एक्स्ट्रा के साथ जीते हैं. इस दौर में तूने अपनी ज़िंदगी यादों के हवाले कर दी. एक बार उसे देखने का, ढूंढ़ने का मन भी नहीं करता तेरा?'

इरम एकदम से तड़फकर बोल उठी.

'सब जाने दे, एक बार उस ओटले को देखने का मन करता है या नहीं? किसी से कुछ नहीं कहना, ना बताना है पर अपने बचपन के दिनों को याद करते हुए उस गांव तो जा सकते हैं ना! जो भी करना है जीते जी ही करना होता है.' इरम ने मीरा को मनाते हुए कहा.

'बड़ा अजीब लग रहा है.' मीरा के अंदर एक कशमकश चल रही थी. जो बात आज तक अपने मन के दायरे से बाहर नहीं आयी. उसको इरम को बता तो दिया पर...

'जिसके नाम ज़िंदगी कर दी, उसके लिए? मैंने किसी से प्रेम किया नहीं, मुझे मिला भी नहीं. मेरी शादी का हाल तुझसे ज़्यादा कौन जानता है फिर भी... प्रेम है तो उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता...'

'इरम! मेरे प्रेम की बात से तू ख़ुद को दुःख दे रही है. अपने आपको परेशान मत कर! छोड़ ना यह सब!'

'कालिदास की शकुंतला अपने दुष्यंत से मिलने जा सकती थी तो तू क्यों नहीं? भारतीय नारी के इतिहास से तूने कुछ भी नहीं सीखा. बहुत कुछ है जो प्रेरणा देता है. अभिज्ञान शाकुंतल सिर्फ़ एक प्रेम कहानी नहीं है. उसका एक संदेश यह भी है कि कोई वादा करके भूल जाये तो, श्राप मिलने के बाद भी उससे मिलने की कोशिश की जाए तो भूली बात भी याद आती है. श्राप भी अपना प्रभाव ख़तम कर देता है. यह कायनात भी उस मिलन के जतन करती है. मछली के पेट से अंगूठी का मिलना इसका प्रमाण है.' इरम अपनी ही धुन में बोल रही थी. वह मीरा को यह अहसास करवाना चाहती थी कि उसने किसी को चाह कर कोई गुनाह नहीं किया है पर अपनी चाहत को यूं ही छोड़ देना ठीक नहीं...'

'यहां किसी का किसी से कोई वादा नहीं हुआ था!' मीरा ने उसे रोकते हुए कहा.

'तो हम भी कुछ नहीं मांग कर रहे थे. पर उस जगह जाने से...'

'नहीं यार, क्या हो गया है तुझे? नशा चढ़ गया है क्या?'

'हां, तेरे प्रताप को देखना है. उस ओटले को भी देखना है... अच्छा बता, मीरा को हम कैसे याद करते हैं?'

'उनके भजन और कृष्ण प्रेम से!'

'एक बात और है जो इसके साथ ही चलती है पर कही नहीं जाती है.'

'क्या?'

'एक विधवा रानी, पैदल अपने कृष्ण से मिलने को निकल पड़ती है. उससे, जो निराकार है. भक्तों का, जोगियों का टोला उसके साथ जुड़ता चला जाता है. जाति के गहरे बंधन के बाद भी वह रैदास को अपना गुरू मानती है. मीरा का जीवन कृष्ण भक्ति का ही नहीं नारी की अविचल सोच, अदम्य साहस की बात भी कहता है.'

'तेरा दर्शन तो बड़ा गहरा है शकुंतला, मीरा... लोगों को एनस्थीसिया देने वाली डॉक्टर इतनी जागी हुई है?' मीरा ने आश्चर्य से पूछा.

'प्रेम न मिले तो उसकी समझ गहरी हो जाती है. या जिसके पास जो न हो उसकी कशिश ज़्यादा होती है अब वो रूप हो या रोटी या कुछ और... जब एक सुंदर, ग़रीब घर की लड़की का एक बहुत अमीर से रिश्ता हो तो पूरा परिवार अंधा हो जाता है. उन्हें सब कुछ दिखना और सुनाई देना बंद हो जाता है. बस मुझे ही ज़्यादा दिखने लगा है. मीरा, युग कैसे थे इससे बड़ी बात है कि हमारा संकल्प कितना दृढ़ है. उसी पर आगे की यात्रा टिकी है.'

थोड़ा रुककर वह बोली — *'यह सुन,*

हे री मैं तो प्रेम दीवानी मेरा दर्द न जाने कोय.
घायल की गति घायल जाने जो कोई घायल होय.
जौहरी की गति जौहरी जाने की जिन जौहरी होय.
सूली पर सेज हमारी सोवन किस बिध होय.
गगन मंडल पर सेज पिया की किस बिधमिल्या होय.
दरद की मीरा बन बन डोलूं बैद मिल्या न कोय.
मीरा की प्रभु पीर मिटेगी जद बैदसांवरिया होय.'

'बालिके, कितना सुंदर स्वर है तेरा! बहुत दर्द है तेरी

आवाज़ में. कहते हुए मीरा का मन भी भीग गया. उसने अपने आपको सम्हाला और बोली —'यह सब छोड़, तू अभी बैंगलोर जाने की तैयारी कर. हम फिर सोचते हैं.'

'सोचना कुछ भी नहीं, कल हम बदनावर जा रहे हैं.'

'क्या?'

'तेरा शौहर?'

'जो होगा देखेंगे, पर हम बदनावर ही जायेंगे.'

अगले दिन... इरम का फ़ोन स्वीच ऑफ़ था. मीरा ने दिन में कई बार कोशिश की पर बात न हो पायी.

दो दिन बाद इरम का फ़ोन आया. 'कल जाने की बात पर ज़रा हाथ-पैर चल गये थे. हम दो दिन बाद ही चल पायेंगे.'

'अरे यार, क्या कर लिया तूने? मैं घर आ रही हूं तुझसे मिलने.'

'आज मत आ! तू परेशान हो जायेगी.'

'इरम... हम कहीं भी नहीं जायेंगे.'

'हम जरूर जायेंगे! तुझे चलना हो तो ठीक नहीं तो मैं अकेली ही जाऊंगी!'

चार दिन बाद मार के निशान बाहर से तो हल्के हो ही गये थे. मीरा ने इरम को छुआ.' कुछ नहीं, अचानक यू-टर्न लेने से गाड़ी स्लिप तो हो ही जाती है. अब इतना डरकर नहीं जिया जायेगा. मेरे शौहर के शक के बाहर भी मेरी दुनिया हो सकती है. यह अब उसे समझाना ज़रूरी हो गया है.'

'तू सेपरेट...?'

' कई बार सोचा है पर उसका अहसान बहुत बड़ा है. वह अब्बू की डायलिसिस का ख़र्च, दोनों भाई बहन की पढ़ाई का ख़र्च उठा रहा है. मेरे रिश्ता तोड़ने से यह सब कौन करेगा? मेरी ५० हज़ार की सैलेरी से क्या-क्या होगा? तीन जीवन को दुःख में डालने से बेहतर है कि यह सब ऐसे ही चलता रहे. तीन मौत से तो एक मौत ही बेहतर है. अचानक बड़े भाईजान के इंतकाल से बहुत कुछ बदल गया है मीरा.'

पैसे से जुड़ी मज़बूरी को सिर्फ़ वो व्यक्ति ही समझ सकता है जो इससे गुज़रता है. मीरा इरम के आगे कुछ भी नहीं बोल पायी, एकदम चुप हो गयी थी. इरम के परिवार का दर्द बहुत बड़ा था.

मीरा और इरम बदनावर पहुंची, अना को साथ में लेकर. गांव की तस्वीर एकदम बदल चुकी थी. रास्ते भी नये से लग रहे थे. बहुत बड़ी–बड़ी बिल्डिंग, मार्केट सब कुछ नया–सा लग रहा था. अपने घर के रास्ते भी बदले हुए ही लग रहे थे. जब घर के सामने पहुंचे तो सामने बड़ा-सा फैला हुआ बरगद का पेड़... वो आज भी वैसा ही खड़ा था... गर्व से अपनी बाहें फैलाए.

'उस पेड़ के आगे गाड़ी रोक देना.' मीरा ने ड्राइवर से कहा.

बरगद के पेड़ के पीछे की तरफ़ एक नया बड़ा मकान खड़ा था. मीरा के दादाजी का मकान, एक नया रूप ले चुका था. उस बड़े मकान को देखकर जब मीरा ने नीचे नज़र की तो उसकी आंखें आश्चर्य से फैल गयीं.

दो सीढ़ियां और उसके बाद हरा-सा फ़र्श बिछा ओटला, चार बड़े काले खंबे जिनके ऊपर टिन की छत, ओटले के बाद एक तरफ़ काली-सी खिड़की और दो बड़े-बड़े दरवाज़े जो सिर्फ़ रात के समय ही बंद किये जाते थे.

यही वो जगह है जिस पर हम पांचें (कनेर के बीज), अंग-बंग-चौक-चंग (इमली के बीज से), चूड़ियों वाला खेल और लंगड़ी खेलते थे. इसी ओटले पर बुआ की शादी से पहले ग्यारह दिन का महिला संगीत हुआ था. तब दादी ने कहा था 'अब इससे ज़्यादा दिन के गीत नहीं कर सकते हैं.' नाईन तेड़े (बुलावा) लगाने जाती थी. और रात को पूरा ओटला गांव की औरतों से भर जाता था. रिश्तेदार, पड़ोसी सब एक से ही लगते थे.

लहंगा लुगड़ा पहने, सर पर पल्लू डाले, पूरा चेहरा ढके, बन्ना-बन्नी बड़ी शिद्दत से गाये जाते थे. कुछ महिलाएं घूमर नृत्य भी करती थीं. जाते समय हम बच्चे टोकरी में रखे दो-दो बताशे सबको देते थे. एक चूड़ी के जितने बड़े बताशे, सीधे हाथ में रख दिये जाते थे. और वो उसी सरलता से लिये भी जाते थे. कितना सरल समय था वो जिसे आज के महिला संगीत के कार्यक्रम से बिलकुल नहीं जोड़ सकते हैं.

यही वो जगह है जहां मैं जम जाती थी... उसको देखने के लिए... 'मीरा... इरम ने हल्के से उसे छू कर कहा.' 'ये क्या,ये तो हमारा ओटला... आज भी वैसा ही है...'

'यहां कौन रहता है?'

'कैसे पता करें?'

'लोग डोरबेल बजा लेते हैं?'इरम ने शरारत से कहा.

'बेवकूफ, यहां तो ताला लगा है.' पास के घर में जाकर जब पूछा तो पता चला कि 'यह किसी का गोदाम है.

वो लोग पेटलावद में रहते हैं. यहां कभी-कभी ही आते हैं.'

'छोड़ यार, वापस घर चल! हम भी क्या कर रहे हैं? नाम, पता कुछ भी नहीं और निकले हैं...'

'ऐसा कर तू कार ले, अना को भी ले जा. मैं थोड़ा घूमकर,आसपास के एक दो गांव देखकर आ जाऊंगी.'

'क्या?'

'हां, सही कह रही हूं. पति की मार खायी, सिर्फ़ इसलिए क्योंकि उसकी मर्ज़ी के खिलाफ़ कहीं जा नहीं सकते. वो साथ न हो तो उसे शक होता है. आज हम किसी को ढूंढ़ने निकले हैं या मैं अपने आपको भी ढूंढ़ रही हूं. इसका जवाब मुझे चाहिए.

'जब तू अपनी चाहत को ख़ुद को भी बताने में डरती है, तो तुझे कोई कैसे मिलेगा? मीरा के साहस को अपने आप से तोल तो तुझे मन की शक्ति का सबसे बड़ा फ़र्क नज़र आयेगा. क्या ज़रूरी था कि मीरा को कृष्ण मिलते?

यह उसकी चाहत, हिम्मत ही तो थी कि पत्थर भी इंसान बन गया. यह कहानी नहीं जीवन का एक बहुत बड़ा संदेश है मीरा. मुझे नहीं लगता तूने इसे समझा है. तूने प्रेम किया, नाम भी तेरे पास है पर भाव नहीं है. मुझे तो इसी ओटले पर बैठ कर खाना खाना है. फिर आगे क्या करना है, बाद में सोचेंगे.' कहते हुए उस खाली ओटले पर इरम खाना खोलकर बैठ गयी. मीरा और अना भी उसके पीछे जाकर उसके पास बैठ गये.

मीरा भीतर से ख़ामोश हो गयी. उसे वो सुनाई देने लगा जो उसने अपने भीतर कभी सुना ही नहीं था. चाहत और शिद्दत में शायद यही फ़र्क है जो आज इरम ने मीरा को समझा दिया. दिल की यह गूंज जब तक बाहर नहीं आयेगी, कायनात नहीं सुनेगी तो रास्ते कैसे बनेंगे?

उस ओटले पर बैठकर, खाना खाते हुए मीरा बोली, 'हम साल में एक बार इस जगह ज़रूर आयेंगे. हर बार किसी एक गांव भी जायेंगे.' थोड़ा रुककर वह आगे बोली, 'प्रताप कभी मिले या न मिले इस जगह से इन यादों से तो जुड़े रह सकते हैं. उससे तो हमें कोई जुदा नहीं...'

'हम हर साल यहां ज़रूर आयेंगे.' कहते हुए इरम ने मीरा का हाथ पकड़ लिया था.

आज दस साल बीत गये. किसे पता था प्रताप को ढूंढ़ने निकली, मीरा का साथ देने वाली इरम दूसरे साल तो क्या दूसरे दिन का सूरज भी नहीं देख पायेगी.

उस बार पेटलावद में प्रताप को ढूंढ़ने की नाकाम कोशिश के बाद घर जाने के दो घंटे के अंदर ही इरम को उसके पति ने गला घोंटकर, स्वीमिंग पूल में फेंक दिया था. मीरा सब जानती थी. पर उसके पास कोई सबूत नहीं थे. और पैसे वाले पति के सबूत पैसों से ही मिट गये थे.

इरम का घर पहुंचने के आधे घंटे बाद ही मैसेज़ आया था कि 'मुझे लगता है उसके सर पर खून सवार है. क्या होगा कुछ समझ नहीं आ रहा है. अना को मेड के साथ कहीं भेज दिया...' एक अधूरा मैसेज़ जिसे पूरा होने का वक़्त ही नहीं मिला. उससे पहले ही लिखने वाले की सांसें टूट...

इरम के परिवार वाले किसी भी झमेले में उलझना नहीं चाहते थे. उन्हें तो अना से भी कोई मतलब नहीं था. आज भी उनका यही सोचना था कि पैसे वाला पिता अपनी बेटी को ठीक से पाल ही लेगा. दूसरी शादी, सौतेली मां से जुड़ा कोई डर या चिंता उनके अंदर नहीं थी.

मीरा ने बेहिसाब मिन्नतें कीं, विश्वास दिलाया कि वे लोग अना को अपने पास बुला लें. उसकी परवरिश ही अब उसकी ज़िंदगी का अरमान है. अना के पिता को इससे कोई आपत्ति नहीं थी. चालीस दिन बाद दूसरी शादी करने वाला व्यक्ति एक अच्छा पिता क्या बनता?

अना को अपनाकर मीरा का जीवन जैसे पूर्ण हो गया था. मीरा ने अना को समझाया था कि वह उसकी मासी मां है. पर अना उसे मासी न कह पायी. वह कहती, 'आपको मैं मॉम ही कहूंगी, वही मेरे मुंह से निकलता है.'

अब अना पंद्रह साल की हो गयी है. वो मां-बेटी हर साल की तरह इस बार भी फिर बदनावर आयी हैं. अपनी यादों के फूल को चुनना और इरम के स्पर्श को याद करना मीरा के जीवन के लक्ष्य थे.

अना की परवरिश की ज़िम्मेदारी, उसका साथ उसके जीवन को एक नयी दिशा और एक नया रंग दे चुका था. मगर जब भी वह अना को देखती, यह कभी नहीं भूल पाती कि इरम की मौत का कारण कहीं ना कहीं उसकी चाहत ही है. प्रताप से मिलने की, उसे देखने की चाहत ही इरम की मौत का कारण बनी थी. उसकी बहुत इच्छा थी कि हम प्रताप को खोजें.

अब हर साल मीरा, अना को लेकर गांव ज़रूर

जाती. वहीं बैठती, वहीं खाना खाना खाती. यह उसकी इरम के लिए एक ऐसी श्रद्धांजली थी जिसे वह जब तक ज़िंदा है उसे इरम के लिए ज़रूर करना है. और वह करेगी भी.

यही चाहत उसे हर बार गांव खींच लाती थी. वह आस-पास के गांव भी जाती मगर उसका मन अब वह नहीं ढूंढ़ता था जो कभी ढूंढ़ता था. उसका मन इरम की मौत के बाद मर गया था. अब वो ज़िंदा थी तो सिर्फ़ एक मां के रूप में. आज अना के साथ उसी ओटले पर बैठे-बैठे पता चला कि यह जगह बिक गयी है.

अब यहां एक मकान बनेगा. आख़िरी बार इस ज़मीन को छूकर मीरा के आंसू उसी जगह गिर गये... जहां कभी प्रताप खड़ा होता था... उसे देखता...और वह भी ... मीरा अना के साथ गाड़ी में बैठने जा ही रही थी कि वही पड़ोसी व्यक्ति उसके पास आया और बोला, 'बहन जी, यह जगह इन्होंने ख़रीदी है.'

एक व्यक्ति की तरफ इशारा करते हुए वह बोला, 'अपने... गांव से डॉ. प्रताप....' उस व्यक्ति की तरफ़ आंख उठाकर मीरा ने देखा. बाहर की आवाज़, चेहरे सब गुम हो गये. मीरा पूरी बात सुन भी न पायी और वहीं गिर पड़ी.

अस्पताल में उसके पास अना बैठी थी, उसके माथे पर हाथ रखे.

'मॉम, आप कैसे हो? क्या हो गया था?'

'मैं ठीक हूं बेटा, बस ज़रा-सा चक्कर आ गया था.'

'हम किसी हॉस्पिटल में हैं?'

'उस घर के बाहर जिनको आप देखकर बेहोश हो गयी थी यह उनका ही हॉस्पिटल है, आज यहां सेलिब्रेशन है. इस हॉस्पिटल को बने आज बारह साल पूरे हुए हैं. डॉक्टर ने कहा था कि जब आपको होश आ जाए तो उनको बुला लिया जाए. मॉम, उनको बुला लें?'

'आप क्यों रो रहे हो? क्या हो गया मॉम?'

'आज इरम की याद आ गयी बेटा. बारह जुलाई, आज बारह साल पूरे हो गये. इस हॉस्पिटल को और आज के १२ साल पहले उस दिन हम यहीं थे. जब यह शुरू हुआ था. हमने अपनी खोज उस घर से शुरू की थी. किसे पता था कि यह मंज़िल तो यहीं खड़ी थी. तेरह को इरम की सांसें... उसके साथ जो खोज शुरू की थी वो आज पूरी हो गयी.'

अना ने मीरा के हाथ पर अपना हाथ रख दिया. वह कुछ नहीं कह पायी. उसकी आंखों में भी आंसू आ गये थे.

'जिस जगह आपने अम्मी के साथ पहली बार खाना खाया था. उस जगह से आपका यही रिश्ता था?'

'नहीं बेटा, वो घर मेरे दादाजी का घर था. हम जहां बैठते थे वहां कभी मैंने झाड़ू लगायी थी. तब हर बुधवार को हाट लगता था. मेरा उस घर से बहुत पुराना...' कहते-कहते मीरा की आंख एक बार फिर भर गयी. उसकी आवाज़ भीग गयी. वह अपनी बात पूरी न कर पायी. अना को बहुत आश्चर्य हुआ कि इस घर के लिए मॉम इतनी इमोशनल थी. हाट का मतलब भी नहीं समझी पर वह बोली कुछ नहीं. अपनी बात कहते हुए मीरा की आंखों से आंसुओं की धारा बह चली.

कमरे में डॉक्टर प्रताप कब आ गये पता ही नहीं चला. जिसे सुनना था, उसने सुन लिया. वह भी कहना चाहता था कि उस साल के बाद वह कोलकता पढ़ने चला गया था. जब यहां आया तो यह मकान बिक चुका था और उसके परिवार से जुड़ी जानकारी उसे नहीं मिल पायी.

पढ़ाई पूरी होने के बाद शादी उसे करनी पड़ी थी. वो अपने खानदान का इकलौता पोता था. जिसकी शादी का फ़ैसला उसके दादा-दादी के जीवन मृत्यु से जुड़ा था. शादी तो हुई, मगर उसने किसी की बात नहीं मानी और इसी गांव में अपना अस्पताल खोला.

इस ओटले को बने रहने के लिए उसने अपने छोटे दादा के दोस्त को कितनी मुश्किल से मनाया था. और अब जब उनका परिवार हमेशा के लिए कोलकाता जा रहा है तब ही वह इस घर को ख़रीद पाया. सिर्फ़ उस ओटले के लिए...

अब चार आंखों से नीर बह रहे थे. आज उन आंखों की यात्रा भी पूरी हुई. क्या पता आज वो भी यहीं हो जिसके कारण आज यह मिलन हो सका. आत्मा अमर है वो न कभी जन्म लेती है न ही कभी मरती है...

दरद की मीरा बन बन डोलूं बैद मिल्या न कोय.
मीरा की प्रभु पीर मिटेगी जद बैद सांवरिया होय.

२०१ संगम अपार्टमेंट,
माधव नगर (विजया नगर)-४७४ ००२
मो. :८८१७७११०३३
मेल - seema.jain822@gmail.com

मैच फ़िक्सिंग

| दिवा भट्ट |

उनके कई बार, कई तरह से समझाने के बाद अंतत: मैं सहमत हो ही गया कि मुझे कोई बहुत बड़ी बीमारी लगेगी या मेरे साथ कोई बड़ी आकस्मिक दुर्घटना होगी, जिसके इलाज में पच्चीस-तीस लाख से अधिक रुपये ख़र्च हो जाएंगे. उस समय मेरे पास या मेरे बच्चों के पास इतने रुपये नहीं रहेंगे.

वे पिछले कई महीनों से मेरे पीछे पड़े हुए थे कि मैं उनकी बात पर विश्वास करते हुए भगवान पर विश्वास करना छोड़ दूं अथवा यह मान लूं कि मुसीबत के समय भगवान मेरी कोई सहायता नहीं करेगा. मैं रोज़ सुबह योगासन तथा प्राणयाम करता था. खाने-सोने और काम करने में काफ़ी संयम और परहेज का पालन करता था. इस कारण गांठ बांध कर मानता रहा था कि मैं स्वस्थ हूं और स्वस्थ रहूंगा. लेकिन उन्होंने सिद्ध कर दिया कि मैं ग़लत था. ऐसा हो ही नहीं सकता कि कलयुग में पैदा होकर कोई मनुष्य हमेशा स्वस्थ रहे और गंभीर रूप से बीमार हुए बिना शरीर का त्याग कर दे. उन्होंने मुझे यह भी विश्वास दिला दिया कि मेरी मृत्यु किसी भयानक दुर्घटना या गंभीर रोग से ही होगी. उससे मेरी संतानें कंगाल हो जाएंगी, अत: उन्हें धन की ज़रूरत पड़ेगी. मैंने बहुत कहा कि ऐसा नहीं होगा. बच्चे बड़े योग्य हैं. उन्हें ऐसी दशा नहीं भुगतनी पड़ेगी. फिर भी मैं थोड़ा-थोड़ा पैसा बैंक में जमा करता रहूंगा, जो ब्याज़ लग कर मेरे स्वर्ग जाने तक काफ़ी बढ़ जाएगा. मेरे बच्चे उसी से काम चला लेंगे. उन्होंने कहा; ''नहीं, बैंक में क्यों जमा करोगे? इसमें तुम्हें घाटा हो जाएगा. तुम्हारे धन का निवेश हम करेंगे. उसमें तुम्हारा बीमा भी शामिल करेंगे.''

ऐसा कहने वाले बहुत-से लोग मेरे पास आये. उनके पास अलग-अलग कंपनियों के छपे हुए फॉर्म थे. सब मुझे यह ठसाने में

जन्म :१३ जून, १९५२.बेलकोट, बेरीनाग,
जिः पिथौरागढ़ (उ. खं.).
एम. ए., पीएच. डी.,
प्रकाशन : अनिकेतन (उपन्यास), मेरे देश की चांदनी, नौ दिन चले अढ़ाई कोस (क. सं.), अक्षरों का पुल, रास्ते अधूरे नहीं होते (क. सं.), दो गुजराती कविता संग्रह : क्षण ना भारा सहियारा व ओमीसियम, कुछ अनूदित रचनाएं गुजराती, पंजाबी, उड़िया, मलयालम और अंग्रेज़ी में प्रकाशित, ८ पुस्तकें संपादित, हिंदी, गुजराती तथा कुमाउनी में लिखीं रचनाएं विविध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित.
अन्य : देश विदेश के अनेक सम्मानों /पुरस्कारों ने अलंकृत.

लगे हुए थे कि सबसे अधिक लाभ उन्हीं की कंपनी से मिलेगा. एक कह रहा था : 'हमारा मुनाफ़ा सबसे ज़्यादा है; दूसरा कहता था: 'हमारी सेवा सबसे अच्छी है. तीसरा, चौथा, पांचवा सभी अपनी-अपनी कंपनियों को बढ़-चढ़ कर विज्ञापित करते जा रहे थे. मैं सुनते-सुनते तंग आ गया था. किसी-किसी को तो मैं बुरी तरह डांट भी चुका था. एक एज़ेंट को मैं कई बार बहाने बना-बना कर टाल चुका था. जब मैं कहीं भी उनके हाथ नहीं आया तो वे मेरा पता ढूंढ़ कर एक दिन सुबह-सुबह मेरे घर आ धमके. उन्होंने तमाम कोशिशें इकट्ठी करके अपने पूरे चेहरे पर मुस्कान फैला कर मेरा अभिवादन किया. फिर इतनी सुबह घर पर आने के लिए माफ़ी मांगते हुए मेरे कुछ कहने से पहले ही कुर्सी पर बैठ गये. उन्होंने तत्काल अपना व्यावसायिक बैग खोलना शुरू किया तो मैं सब समझ गया. मैं नहाने के उपक्रम में दाढ़ी बना रहा था कि पता नहीं कहां से मेरे भीतर एक बौद्धिक चमत्कार हुआ और मैंने रेज़र का ब्लेड निकाल कर उनकी ओर हाथ लंबा करते हुए कहा : ''यह देख रहे हो? अगर एक भी शब्द आगे कहा तो इससे तुम्हारी गर्दन की नस साफ़ कर दूंगा.''

इस अप्रत्याशित स्वागत से वे सकपका कर भाग गये. एक बार मैं अपने दफ़्तर में बैठा कागज़ों में मशगूल था कि एक भली-सी महिला ने दरवाज़े से भीतर को झांक कर चिर परिचित-सी मुस्कान के साथ दरवाज़ा खोलते हुए पूछा; 'आ जाऊं स...र?'

मैं उस मुस्कान में उलझ गया. वह इतनी आत्मीय थी कि मैं गुत्थी सुलझाने में जुट गया कि 'इस चेहरे को मैंने कब-कहां देखा था. यह है तो कोई अपनी ही, लेकिन कौन?'

ख़ैर मैंने उसे बैठने के लिए कहा और जिज्ञासा से उसकी तरफ़ देखा. बैठते ही उसने पूछा, ''और कैसे हैं आप?''

''ठीक हूं. आप कैसी हैं?''

''बिलकुल ठीक हूं. आपसे मिल कर और भी अच्छी हो गयी हूं.'' मैं टुकुर-टुकर ताकता रहा, वह मधुर-मधुर बोलती रही. मेरा हाल-चाल सब जान लेने के बाद उसने मुझे अपनी बीमा योजना समझानी शुरू की. मैं अंदर से जान रहा था कि मुझे बीमा नहीं कराना है. यह औरत मुझे फांस रही है. इसके झांसे से कैसे बचा जाय यह सोचते हुए एक उलझन भी महसूस हो रही थी कि यह है तो कोई अपनी ख़ास ही, इसे कैसे मना करूं? कौन है यह तो याद आये.

इन्हीं बातों में भीतर-भीतर उलझते हुए मैंने उसको बोलते रहने दिया. मैं उसकी मादक वाणी के बहाव में खिंचा चला जा रहा था. अंत में उसने सीधे-सीधे पूछ ही लिया; ''तो मैं कब आऊं?''

मैं चौंक पड़ा; ''किसलिए?'' मैंने पूछा तो वह बोली ''आपकी पॉलिसी कराने. अभी भर दूं फॉर्म.''

''नहीं, नहीं, अभी नहीं.''

''तो कब आऊं?''

''देखिए, मैं आजकल बहुत व्यस्त हूं.''

''मैं अगले हफ़्ते आ जाऊंगी.'' उसने फिर वही आत्मीय मुस्कान बिखेरी. मुझे उस कीड़े की याद आयी, जो छोटे-छोटे जंतुओं का शिकार करने से पहले गंध छोड़ कर उन्हें बेहोश कर देता है. उस मुस्कान में मुझे वही गंध

महसूस हुई.

''ठीक है.'' कहकर मैंने बला टालनी चाही.

''अच्छा मैं नोट कर लेती हूं.''

कहकर वह पूछने लगी; ''पता क्या लिखूं सर?''

''मैं चौंका. इसे जब मेरा पता ही नहीं मालूम तो कहां आने की इतनी ज़िद कर रही थी? ख़ैर, मैंने मोहल्ले का नाम बता दिया.

''घर का कोई नंबर सर?''

मैंने बता दिया.

''सर, फ़ोन करके आऊंगी. क्या नंबर लिखूं?''

अंत में उसने जो पूछा, उसे सुनते ही मैं मानो धड़ाम से गिर पड़ा.

''आपका नाम क्या लिखूं सर?''

हे भगवान! इतना बड़ा नाटक?

ऐसी-ऐसी कई घटनाएं मेरे साथ घट रही थीं. इनसे पिंड छुड़ाने के लिए अंततः मुझे अपने पड़ोसी से 'हां' कहना ही पड़ा. पड़ोसी, पड़ोसी होता है. सुख-दुःख में सुबह-दोपहर-शाम, दिन हो या रात, वही काम आता है. सचमुच वह पड़ोसी रोज़ एक बार मेरे घर आकर मुझसे भली-भली बातें कर जाता था. मौक़ा लगते ही मेरी कोई न कोई छोटी-मोटी मदद भी कर देता था. उसके कई बार कहने के बाद भी जब मैं नहीं माना था तो उसने पॉलिसी की बात करना ही छोड़ दिया था, लेकिन मेरे घर आकर मुझसे गप्पें मारना ज़ारी रखा. मैं उसके धैर्य और सहिष्णुता पर मुग्ध हुआ जा रहा था. मैं तो ऐसी झिड़की और उपेक्षा देख कर स्थायी तौर पर संबंध तोड़ लेता. सच में खाल हो तो गेंडे जैसी और सहिष्णुतापूर्ण निर्लज्ज लगन हो तो बीमा एजेंट जैसी. तभी आज की दुनिया में आदमी टिक कर रह सकता है.

पड़ोसी जैसे ही मेरे हस्ताक्षर करा कर बीमा कार्यालय में फ़ॉर्म जमा कराने गया, काउंटर पर मेरे एक ख़ास रिश्तेदार ने देख लिया. वह शाम को मेरे घर आ धमका. वह हमारे पारिवारिक संबंधों का वास्ता देकर और अपने सालाना टार्गेट पूरे न होने के कारण आसन्न मुसीबतों के विवरण सुना-सुना कर मुझे इमोशनली ब्लैकमेल करने जैसे सभी हथकंडे आजमा चुकने के बाद थक-हार कर मुझसे दूरी बना चुका था, मगर आज मुझ ज़िद्दी की पॉलिसी अपने प्रतिद्वंद्वी के हाथों में देखते ही उसके तो आग ही लग गयी. घर आकर उसने मुझे जी भर के कोसा. मैं सुनता रहा. मैंने पड़ोसी धर्म की दुहाई दी तो वह कहने लगा; ''पड़ोस तो बदलते रहते हैं, परंतु संबंध नहीं बदलते. आपने हमें पराया समझा. न जाने कौन कहां से आकर पड़ोस में रहने लगा, वह तो ख़ास हो गया और हमारा ख़ून का रिश्ता...''

मैंने उसे समझाने की कोशिश की कि मैं सचमुच बीमा-वीमा में विश्वास नहीं करता, लेकिन उस मज़बूर की मुसीबत देख कर उसकी मदद के नाते उससे बीमा कराने को मज़बूर हो गया. वह तपाक से बोला — हमारी मज़बूरी नहीं दिखी आपको; अपने इस सबसे सगे की? ''

''दिखी न? तभी तो कह रहा हूं, लाओ तुम भी फ़ॉर्म भर दो. एक तुमसे भी करा लेता हूं.'' इस तरह मैंने उससे अपनी पत्नी का बीमा करा लिया.

उसके बाद अन्य जिन-जिन को मैं मना कर चुका था; वे सब मुझ पर आंखें तरेरने के हक़दार हो गये. किसी ने धमकाया, किसी ने व्यंग्यबाणों की बौछार बरसायी और किसी-किसी ने पिछली योजनाओं से बढ़कर नयी योजनाओं के फ़ायदे समझाने शुरू कर दिये. इस तरह मैंने बच्चों के नाम से भी बीमा करा लिया और प्रामाणिक तौर पर मान लिया कि भविष्य उज्ज्वल नहीं; अंधकारमय है. उसमें कुछ अच्छा हो न हो, बुरा ज़रूर होगा. हम में से हरेक के साथ बहुत बुरा होगा. उस समय हमारा भाग्य, भगवान, पड़ोसी-मित्र, नातेदार कोई हमारी मदद नहीं करेंगे. हमारी मदद केवल बीमा कंपनी ही करेगी, वह भी केवल आर्थिक मदद. हमने यह भी मान लिया कि आर्थिक मदद ही सबसे बड़ी होती है. आदमी को जीने के लिए केवल धन की आवश्यकता होती है, अन्य किसी वस्तु, मनुष्य, संबंध अथवा भावनात्मक सहारे की आवश्यकता नहीं होती. तबसे मेरी आधी से अधिक तनख़्वाह बीमे की किश्तें जमा करने में जाने लगी. हाथ तंग हो गया.

मैं उसके बाद भी अपने नियम-संयम आदि का पालन करता रहा और बच्चों से भी अनुसरण करने का आग्रह करता रहा. उधर बच्चे उत्तर–आधुनिक हवा में छलांगें लगाते रहे. वे मेरे द्वारा दिये जा रहे पारंपरिक संस्कारों तथा बाहर के वातावरण में मिल रहे नये संस्कारों के बीच झूलते-टकराते हुए अंततः मेरे हाथों से छिटक कर बाहर चले गये.

जाना ही था. अपने समय की हवा के थपेड़ों से कौन बच सकता है?

इस तरह हमारे अनेक वर्ष समय के प्रवाह में बह गये. कभी-कभी होने वाले सर्दी-खांसी बुख़ार के बावजूद हम सब ठीक-ठाक स्वास्थ्य के साथ आगे बढ़ते रहे. दस-पंद्रह साल बाद एक दिन मुझे फिर से बुख़ार आया तो मैं हमेशा की तरह उपवास, नमक-पानी के गरारे, नींबू पानी, जल-नेति, प्राणायाम आदि से उसे नियंत्रण में रखने के उपायों में जुट गया. लेकिन बुख़ार उतरने के स्थान पर और भी बढ़ता गया. तब मेरा बेटा मुझे बताये बग़ैर एक डॉक्टर को घर बुला लाया. डॉक्टर ने अपनी जांच के बाद अस्पताल जाकर ख़ून की जांच अनिवार्य बता दी. अगले दिन हम अस्पताल पहुंचे. ख़ून-पेशाब की जांच हुई तो कहा गया कि यह डेंगू बुख़ार है. प्लेटलेट्स बहुत कम हो गये हैं और कम होने पर जान भी जा सकती है आदि-आदि. मेरी इतनी सावधानियों के बावजूद एक अदने से मच्छर की शैतानी के कारण मुझे अस्पताल जाना पड़ा. मुझे एक भव्य निजी अस्पताल में भर्ती कर दिया गया. अस्पताल में दाख़िले के समय मेरे बीमे का पूरा विवरण मांगने के बाद ई-मेल और फ़ोन द्वारा बीमा कंपनी से उसकी पुष्टि करायी गयी. कमज़ोरी के कारण मुझे बेहोशी-सी छा रही थी, अत: मैंने किसी बात का विरोध किये बिना अपने आपको उन सबके आगे समर्पित कर दिया. अस्पताल की जो छवि मेरे मन में थी, उससे यह अस्पताल पूरी तरह भिन्न था. इस निजी अस्पताल में रहते हुए महसूस ही नहीं होता था कि मैं अस्पताल में हूं. यह तो कोई पंच सितारा होटल जैसा भव्य, साफ़-सुंदर था. घड़ी-घड़ी परिचारक-परिचारिकाएं सेवा में हाज़िर हो रहे थे, मानो हम कोई राजसी मेहमान हैं. सुबह-शाम चिकित्सक आकर देख जाते. दिन में तीन बार एक आदमी आकर कीटाणुनाशक दवा डले पानी से कमरे में पोंछा मारता. एक आदमी सुबह पानी देने आता. थोड़ी देर में एक आदमी चाय-बिस्किट दे जाता. आधे घंटे बाद जूठे बरतन उठाने आता. एक व्यक्ति रोज़ सुबह आकर मेरी दाढ़ी बनाता और नर्म गुनगुने मुलायम तौलिये से मेरी देह पोंछ कर मेरे कपड़े बदलता. नर्सें दिन में चार-छः बार आतीं. कभी दवा खिलातीं, कभी इंज़ेक्शन लगातीं, कभी बुख़ार तो कभी रक्तचाप नाप कर ले जातीं. सुबह दस बजे डाइटीशियन आकर मेरी सुबह-शाम की ख़ुराक के बारे में पूछ जाती. एक व्यक्ति सूप देने आता. आधे घंटे बाद भोजन लेकर आता. तीन बजे चाय, शाम को सात बजे सूप फिर भोजन. यानी दिन भर वे आ-आकर सेवा करते रहते और मेरी नींद तोड़ते रहते. मैं शुरू-शुरू में आश्चर्य के साथ इस सुख को भोगता रहा.

फिर मन उकताने लगा. बड़ा परायापन महसूस होता था इस सब में. अस्पताल में मेरे साथ कभी मेरी पत्नी रहती, कभी बेटा. पत्नी सुबह घर के काम निबटा कर भागी-भागी आती. बेटा दिन में ड्यूटी कर शाम को भागा-भागा आता. कई बार उसे छुट्टी भी लेनी पड़ती. एक से दूसरे को वहां रहने की इज़ाज़त नहीं थी. मेरे मित्र, रिश्तेदार और पड़ोसी सब मिलने आते, लेकिन उन्हें कमरे तक नहीं आने दिया जाता. उनके लिए अलग से पास बनवाना पड़ता, वह भी एक ही मिलता. कमरे में आने से पहले उनकी मय सामान तलाशी ली जाती और झोला-वोला सब जमा करा लिये जाते. बहुत से मिलने वाले अपमानित होकर लौट जाते थे. मैं राजमहल की उस नज़रबंदी से मुक्त होकर जल्दी से जल्दी घर जाना चाहता था. एक सप्ताह बाद बुख़ार टूट जाने पर मैंने आग्रह किया कि मुझे घर जाने दिया जाय, लेकिन अस्पताल वालों ने कहा कि अभी मेरी ख़ून की प्लेटलेट्स सामान्य नहीं हुईं, इसलिए मुझे कुछ दिन और वहीं रहना होगा. पत्नी बढ़ते बिल से घबराई हुई थी. घर के काम भी ठीक से पूरे नहीं हो पा रहे थे. वह बार-बार कह रही थी कि "घर चलो, मैं तुम्हें, पपीते की पत्तियों का रस पिलाऊंगी. उससे प्लेटलेट्स तीन दिन में सामान्य हो जाएंगी." उसे एक से अधिक महिलाएं यह रामबाण इलाज बता चुकी थीं; लेकिन अस्पताल में रहते हुए हम घरेलू इलाज की बात कर ही नहीं सकते थे. अस्पताल वाले यह भी समझाते रहते कि हमें पैसों की चिंता नहीं करनी चाहिए. वे केवल पैसों के बारे में सोचते थे. हमारी दूसरी परेशानियां उन्हें दिखाई ही नहीं देती थीं. उस शाम मैं बड़ा हताश-निराश-सा तकिये पर सिर लुढ़का कर पड़ा हुआ था कि अचानक एक परिचारक ने आकर सूचना दी कि मुझे छुट्टी दी जा रही है. यह क्या? सुबह तो कुछ और ही कह रहे थे? आश्चर्य के साथ ही प्रसन्नता की सांस लेते हुए हमने जाने की तैयारी आरंभ कर दी. पत्नी ने बेटे को फ़ोन करके जल्दी आने को कह दिया. हमारा निजी सामान उठा-उठा

कर झोलों-थैलों में ठूंसा. बेटे के आने तक छुट्टी के क़ाग़ज तैयार थे. परिचारक हड़बड़ाते हुए आकर सामान निकालने में हमारी मदद करने लगे. हमारे कमरे से बाहर निकलने से पहले ही उन्होंने चादरें बदलनी शुरू कर दीं. हम बाहर निकल रहे थे और एक नये मरीज़ का स्ट्रेचर अंदर को आ रहा था. तब समझ में आया कि मैं अचानक घर जाने लायक स्वस्थ कैसे हो गया. मरीज़ों की बढ़ती तादात के कारण उन्हें बिस्तर खाली करवाने थे.

घर पहुंचने के तीसरे दिन मुझे फिर से बुख़ार आ गया. पेशाब में भी परेशानी होने लगी और चेहरे, पेट तथा पांवों में सूजन आने लगी. अस्पताल दिखाने गये तो फिर से भर्ती कर दिया गया. पुनः जांचें हुईं. पता चला कि मुझे मधुमेह हो गया है और मेरे गुर्दों में कोई संक्रमण हो गया है. फिर तो दवाएं चलती रहीं और मर्ज बढ़ता रहा. मेरी नित नयी जांचें होतीं. जांच के लिए सुई से त्वचा में कई जगह छेद किये जाते. कभी नस नहीं मिलती, कभी ग़लत जगह छिद जाता. दो दिन में जितना ख़ून बनता, तीसरे दिन उससे अधिक निकाल लिया जाता. नित नये रोग बताये जाते और नित नयी दवाएं बदलतीं. अद्यतन तकनीकी भाषा में बीमारियों के ऐसे-ऐसे नये-नये नाम सुनने को मिलते; जिन बीमारियों और उपबीमारियों के विषय में मैंने कभी सुना भी नहीं था. धीरे-धीरे मैं अपने पैरों पर चलने में असमर्थ हो गया. देह सूजने लगी. पता चला कि किडनी हड़ताल पर उतर रही है. कहती है काम नहीं करूंगी. उसकी धमकी को दरकिनार कर मेरी डायलिसिस शुरू की गयी. जिस दिन डायलिसिस होती उस दिन मैं और भी निढाल हो जाता. बच्चे रोने लगते. बेटी तो शुरू से ही रोना-धोना मचाये हुई थी. उसे अस्पताल आने से रोका जाता, वह ज़िद्द करके आ जाती. मैंने घर चलने की ज़िद्द की. बच्चे मान गये. डॉक्टरों को मनाया गया कि सप्ताह में एक दिन घर से ही आकर डायलिसिस करा ले जाएंगे. घर जाकर मैंने चैन की सांस ली. एक सप्ताह बाद पता चला कि रूठी हुई किडनी अब रूठी ही रहेगी, इसलिए हर तीसरे दिन डायलिसिस करानी होगी. अस्पताल की ओर से सलाह दी गयी की हर तीसरे दिन आने-जाने की परेशानी से अच्छा यह है कि वहीं भर्ती कर दें. जांचें भी होती रहेंगी, डॉक्टरों की निगरानी भी रहेगी. वही किया गया. किडनी टोटल हड़ताल पर चली गयी. उससे सहानुभूति जताते हुए धीरे-धीरे दूसरे अंग भी पहले कुछ दिन सांकेतिक हड़ताल पर रहने के बाद अंत में आमरण अनशन पर जा बैठे. एक्स-रे, सोनोग्राफ़ी, सिटी स्कैन, एम.आर.आई. वग़ैरह-वग़ैरह सब करने के बाद इस पूर्ण हड़ताल को डॉक्टर मल्टी ऑर्गन फ़ेलियोर नाम दे रहे थे. मेरे अधिकांश अंग नाकाम हो चुके थे. हाथ पर एक फ़ुल टाईम सुई फंसा दी गयी थी. उस पर लगी हुई नली के माध्यम से ही मुझे पानी, नमक, ग्लूकोज़, दवाएं आदि सब मुहैया कराया जा रहा था. तरल भोजन के लिए नाक से नली डाली गयी थी. मैं उठ नहीं सकता था, इसलिए पेशाब के लिए भी नली लग गयी. शौच के लिए डाइपर पहनाये जा रहे थे. बीच-बीच में ऑक्सीज़न मास्क पहना कर फिर निकालते भी रहते. नाक में लगी नली के कारण ऑक्सीज़न मास्क लगाने में परेशानी हो रही थी, इसलिए अब गले में छेद करने की बात होने लगी. मेरी घबराहट बढ़ते-बढ़ते उस सीमा तक पहुंच चुकी थी; जहां से मैं अपने मन को टॉर्चर किये जाने के अगले तरीक़ों के बारे में सोचने में लगा देता. अस्पताल के पास सब परेशानियों के लिए एक से अधिक उपाय थे, सिवा मौत से बचाने के. मेरे परिवार वाले, नाते-रिश्ते वाले सब समझ चुके थे कि अब मेरा ठीक होना मुश्किल है, फिर भी जिसे भी आने का मौक़ा मिलता; वह मुझे सांत्वना और शुभकामना दे जाता. 'किस बात के लिए शुभकामना?' मैं मन ही मन पूछता और मन ही मन उत्तर देता; 'ऊपर जाने के लिए.'

दूसरे शहरों-गांवों में रह रहे अपने सगे, चचेरे, ममेरे, फुफेरे भाई-बहनों से मिलने को, बचपन के गांव और मित्रों से मिलने को मन छटपटाता. तड़प बढ़ जाती. कभी-कभी मेरी तड़प देखकर बच्चे उनसे फ़ोन पर मेरी बात करा देते. उनकी आवाज़ कानों में पड़ते ही मैं भावविह्वल हो जाता और बोलने के बदले रोना शुरू कर देता. तब मेरे हाथ से फ़ोन छीन कर कोई दूसरा व्यक्ति उन्हें मेरा हाल-चाल बताता. एक दिन दीदी का फ़ोन आया तो मेरे मुंह से अपने आप निकल गया कि ''मुझे छः महीनों से अस्पताल में फेंका हुआ है. सुइयां खोंस रखी हैं, नलियां फंसाई हुई हैं. मुझे यहां से बाहर निकालो.''

नाक में लगी नली ने मेरे उच्चारणों पर सेन्सर बोर्ड बैठा रखा था. मैं जो बोल रहा था, वह उनकी समझ में नहीं

आया. शुरू-शुरू में पत्नी और बच्चे मेरी हालत पर तड़-तड़ आंसू बहाते थे. अब उनके चेहरे सख़्त हो गये. इस सख़्ती में दुनिया भर का दर्द सिमट आया था. छः महीने पहले मैं साठ किलो वज़न के साथ अस्पताल आया था, अब मेरा वज़न सवा सौ किलो से ऊपर था. पांव से लेकर माथे तक हर अंग फूल कर तमतमा रहा था. मुझे बचपन में मिले हुए बुज़ुर्गों के आशीर्वाद याद आ रहे थे; ''बेटा, खूब फलो, फूलो.'' मैं करवट नहीं बदल पाता था और इन लोगों की मुझे पलटने में जान निकलने लगती थी. शरीर में जगह-जगह फफोले उठ रहे थे. मेरे हाथ-पांव-पीठ आदि में जहां भी हाथ लगाते, वहीं दर्द टीस जाता. लगता कि अब त्वचा फट कर इसमें से ख़ून-पानी बहने लगेंगे. हाथों की चमड़ी सचमुच फटने लगी. उसमें दरारें पड़ रही थीं. मेरा बेटा रोज़ जा-जाकर स्टाफ़ से मुझे मुक्त करने के लिए कहता था. उनका एक ही उत्तर था: ''इससे क्या होगा? आपको कल-परसों फिर आना पड़ेगा. अचानक तबीयत बिगड़ गयी तो क्या करेंगे?''

''अभी कौन-सी सुधरी हुई है? छः महीने से देख रहे हैं, तबीयत सुधरने के बदले बिगड़ ही रही है! लाखों रुपये बहाने का परिणाम...!'' बेटा बड़बड़ा रहा था. अस्पताल के आदमी ने धैर्य बंधाने के अंदाज़ मे कहा — ''रुपयों की चिंता आप क्यों करते हैं? इनका तो इंश्योरेंस है न पचास लाख का? कंपनी उठायेगी सारा ख़र्च! आप क्यों परेशान होते हैं? इन्हें रहने दीजिए यहीं!''

ओह! ये तो बात है! अब समझ में आया. पूरा खेल बीमा कंपनी और इलाज़ कंपनी का है! लेकिन ख़र्च क्या सिर्फ़ दवाओं और अस्पताल में रहने का ही होता है? रोज़-रोज़ घर से आने-जाने का ख़र्च, बेटे के अवैतनिक अवकाशों का ख़र्च; अस्त-व्यस्त हो चुके घर, परिवार के छिन चुके चैन और सर्वथा नष्ट हो चुकी मेरी जीवनी शक्ति के हिसाब की भरपाई कहां से होगी? मुझे डाइलिसिस के लिए आते-जाते मिलने वाला वह रोगी याद आ गया, जिसकी पिछले महीने मृत्यु हो गयी थी, लेकिन अस्पताल वाले उसे प्राण निकल जाने के बाद भी एक सप्ताह तक वेंटिलेटर पर रखे रहे और उसके घर वालों को आश्वासन देते रहे कि वह ठीक हो जाएगा. बाद में जब उनके किसी परिचित डॉक्टर ने घरवालों को हक़ीकत समझायी तब उनकी समझ में आया कि ऐसा केवल बिल बढ़ाने के लिए किया जा रहा था. वह आदमी सरकारी विभाग का था. उसके बिल का भुगतान सरकार करने वाली थी, इसलिए एक तकलीफ़ लेकर अस्पताल में आये हुए उस आदमी की तकलीफ़ को दूसरी बीमारियों से गुणा करके बृहद् रूप दे दिया गया था. मरने के बाद उसकी मृत देह का इस्तेमाल बिल बढ़ाने के लिए किया जा रहा था. मैं उस दिन बेहद डर गया था, इसलिए मैंने बेटे से कहा कि मुझे मरने से पहले ही घर ले जाना बेटा, मेरी देह की ऐसी कुगत मत होने देना. बेटा मुझे समझा रहा था कि ऐसा कभी नहीं होगा. मैं ठीक होकर जल्दी ही घर जाऊंगा, मगर उसके चेहरे का उड़ा हुआ रंग साफ़ बता रहा था कि वह मुझसे ज़्यादा डरा हुआ था.

हम छः महीने से फ़ील्डिंग में अपनी सारी ताकत झोंकते हुए जीत के सपने देख रहे थे और वहां गेंदबाज और बल्लेबाज (हमारी देसी भाषा में फेंकबाज और झटकबाज) के बीच मैच पहले ही फ़िक्स हुआ पड़ा था. हम हारा हुआ खेल फिर से हारने के लिए खेल रहे थे.

मैं बोलने में असमर्थ था, लेकिन सुन-समझ सब रहा था. 'अब और नहीं.' मैं अच्छी तरह से समझ चुका था कि अब मैं कभी ठीक नहीं हो सकता. ज़िंदा रह भी गया तो अपंग होकर अपने इन परिवार वालों पर बोझ बना रहूंगा, जो इतने समय से कितनी मुश्किलें झेलते हुए मेरी सेवा में लगे हैं. अस्पताल का ख़र्च बीमा कंपनी देगी, मगर इनका भी कम लगा है? मैं इनको कंगाल बना कर नहीं जाऊंगा. बहुत जी लिया. और जीकर करना भी क्या है? मैं ईश्वर से मौत मांग रहा था. और बच्चों से कहना चाह रहा था, 'बेटा, मुझे घर ले चलो. जो भी होगा, वहीं होगा. मरना तो है ही, मगर यहां इन बंद दीवालों के बीच लोहे के पलंग पर जकड़े हुए, सुइयों और नलियों से बंधे-गुदे नहीं मरना चाहता मैं. मैं मुक्ति चाहता हूं, पूर्ण मुक्ति. बेटा, मुझे घर ले चलो.'

लेकिन न मुंह कोई उच्चारण कर पाया, न कंठ से आवाज़ निकल पायी. मैं अपनी पत्नी और बच्चों के पस्त-परेशान-हैरान चेहरों को ताकता-देखता रहा. आंखों के कोनों से दो बूंदें ढुलकीं और बस.

अवलोकन,
विवेकानंद (ब्राइटन) कॉर्नर
अल्मोड़ा (उ. खं.) २६३६०१.

नदी की अविरल धारा

| डॉ. उपमा शर्मा |

उछलती, इठलाती भावनाओं के प्रवाह का असीम वेग लिये वो बहती जाती थी. मम्मी-पापा की लाड़ली, भाइयों की दुलारी. सुबह से सांझ तक बस गीतों के राग में बहती रहती. मां समझाती, पैरों में नूपुर बांध संगीत की सरगम पर थिरकना अब छोड़ दे बेटी. वो हंसती खिलखिलाती. मुझे बंधन में मत बांधो मां.

'मैं तितली हूं, सरगम हूं साज हूं. मैं उसके दिल की आवाज़ हूं.
मैं सागर की नदी हूं.
चिर काल तक उसी को चाहूंगी. मां मैं अपने सागर में मिल जाऊंगी.'

मां की आंखों में चिंता की लहरें तैर जातीं. कब आसान होता है चाहतों का पूरा होना. चाहतों के स्वर में डूबी उसकी भोली बेटी यह कैसा ख़्वाब आंखों में पाल रही थी. राह में कितने कंकड़ कितने पर्वत आयेंगे. कैसे पार करेगी वो ऐसे दुर्गम रास्ते?

तब नदी थी, पर्वत थे, पंछियों के गान थे. तब लड़कियां तितली-सी उड़ती फिरती थीं. चिड़ियों-सी चहचहाती थीं, नदियों-सी बहती थीं. गाना-नाचना उनका जीवन था. वो चंचल थी अलमस्त सुबह-सी भोली. कलियों का राग थी. सुबह के कलरव के साथ उसके गीतों के स्वर गूंज उठते. पापा-भाई उस पर बारी बारी जाते.

'एक काजल का टीका लगा दिया करो हमारी लाड़ली को.' मां सिहर जाती. काजल-सी क़िस्मत न लिखा लायी हो लाड़ली. उसके प्रेम के आस्वाद से मां डर जाती. वो मां के डर को परे धकेलती सखी सहेलियों में बैठ दिन-रात सागर की बातों में डूबी रहती.

वो चंचल थी नादान थी, बांसुरी की तान थी. हवा का झोंका थी. लहरों की रुनझुन थी. बादलों का गुबार थी. कलियों-सी गुंथी थी. भंवरों का गुंजन थी. प्रेम से बनी थी, प्रेम में पली थी वो लहरों की सहेली, लहरों से

जन्म : ५ सितंबर १९७९ रामपुर, (उ. प्र.)

शिक्षा : बीडीएस, कोठीवाल डेंटल कॉलेज़, मुरादाबाद.

प्रकाशन : साहित्य अमृत, नया ज्ञानोदय, हिंदी चेतना, विभोम स्वर, प्रभात खबर, प्रेरणा अंशु, कथाक्रम आदि पत्रिकाओं में निरंतर रचना प्रकाशन.

संप्रति : दंत चिकित्सक.

बुनी थी. वो सागर की नदी थी.

उसकी आंखों ने भी चुन लिया था प्रेम. सपनीला प्रेम, लजीला प्रेम.

प्रेम के कितने रूप होते हैं. आंखों की परतों में समाता झीना-सा प्रेम. रातों को जगाता.

मीठा-सा प्रेम. समुद्र से सीपियां चुराता भोला-सा प्रेम. उछलती बारिश की बूंदों को हथेलियों में सहेजता प्रेम. वो प्रेम की अनुभूति थी. चंचल उन्मुक्त बादलों के पार उड़ने को बेकरार.

वो निर्बाध गति से बहती जा रही थी. सखी सहेलियां हर रोज़ आ बैठ जाती पर्वत किनारे और सुना डालती रत्नाकर के अनगिनत क़िस्से. कितना विशाल हृदय है उसका. उसकी गोद में सैकड़ों रत्न हैं. बड़ी-बड़ी मछलियां वहां इठलाती हैं अनगिनत सीपियों, शंखों को दामन में थामे हुए भी एकदम शांत रहता है. कितने ही जीव उसके हृदय में पनाह पाते हैं लेकिन वो तो अपनी नदियों के लिए बेकरार रहता है. क़िस्से कहानियों में सागर की बातें सुन वो हर रात उसके सपने देखती. वो देखती सागर और उसकी बांहों में सिमटी वो ख़ुद.

लहरों के दुपट्टे को उंगलियों में लपेटती वो ख़ुद से ही बातें करने लगती. चांद–रात है और खिड़की पर लटकता मेरा मन. तुम आओ और उतार लाओ इसे आसमान की खूंटी से. पास बैठ कर बनायें हम प्रेम के निशान एक दूसरे के दिल पर. पर इतनी दूर कैसे पहुंच पाती उसकी आवाज़.

उच्छृंखल, चंचल नदी अब सूखने लगी. मां ने उसका पीला पड़ता चेहरा देखा. वो न अब गाती थी, न नाचती थी. मां घबरा गयी. यह कैसा रोग लगा लिया उसकी बेटी ने? अनजाने अनदेखे की चाह ने उसकी लाड़ली के पर भिगो दिये. नदी अब बहती नहीं थी. मन में अनजाने ही उदासियों ने डेरा जमा लिया. वो सोचती रह जाती पर कारण न ढूंढ पाती. एक गहन उदासी ने ख़ुद को ओढ़ लिया. एक निस्सीम चुप्पी धरा पर पसर गयी. कलकल के स्वर ठंडे पड़ गये. उसमें रहने वाली छोटी मछलियां, नन्हें जीव घबरा गये. मां उसको समझाती, तेरी नियति सागर में मिल जाना ही नहीं है. अपना अस्तित्व तलाश बेटी. प्रेम में डूबे पंछी कब अपना अस्तित्व तलाशते हैं. उसने भी दिमाग़ को परे ढकेल दिया. मां की बातों को पल्लू में बांध पानी में उछाल दिया. मछलियों की मनुहार और अपने दिल के तारों के राग पर वो चल दी अपने सागर में समाने. वो बरसात की एक सुहानी सुबह थी. तेज़ बारिश का सिलसिला समेट अब बादलों ने तेज़ रिमझिम की ठान ली. नन्हीं-नन्हीं बूंदों से हंसी-ठिठोली करती घर से चुपचाप निकल वो चल पड़ी. रास्ता बहुत लंबा और दुर्गम था. मैदान में बहते काले पानी से बचते बचाते वो पहाड़ों की ऊंचाई को चूमने निकली थी. पत्थरों से कितनी बार उसका शरीर लहुलुहान हुआ. न जाने कितनी लंबी दूरी तय करनी थी. वो कितनी ही बार मायूस हो जाती फिर सागर की बांहों की चाह एक नयी राह दिखा देती और वो फिर चल देती दुगने उत्साह से.

दुर्गम पथरीले पहाड़ों पर उसके पैर रिस रहे थे. उधर मां रो रही थी. भाई परेशान था. सुबह का उजाला फैल रहा था मगर उनके दिलों में अंधेरा था. सखियां चुपचाप नज़र नीची करके खड़ी थीं. न जाने कहां होगी उसकी मासूम प्रिय सखी. भाई ने तलाश में सूर्य के सातों घोड़े दौड़ा दिये.

अपनी तलाश में सूर्य के सातों घोड़ों को देख वो छुप गयी. राह में कितनी भी दुश्वारियां हों वो अपने सागर के पास जा कर ही रहेगी.

सूर्य की सातों रश्मियां डूबने लगीं. चांद रोने लगा, तारे मद्धिम हो गये, चांदनी छिटक गयी. रात की रानी मुरझा गयी पर वो न आयी.

भाई थक कर बैठ गया. मां रो-रोकर उसके वापस आने की दुआएं करती. पिता गुमसुम हो गये, वो जो गयी तो फिर न लौटी.

समय के तंतु बढ़ते रहे. एक युग बीत चला चलते- चलते उसके पैरों में छाले पड़ गये. वह मीलों की दूरी तय कर आयी थी. न जाने सागर अभी कितनी दूर था. नन्हें पैरों में कांटे चुभ गये थे. उसकी आंखों से आंसुओं का रेला शुरू हो जाता. कितनी चुप-चुप हो गयी थी ये धरा. कितना सूना था गगन.

वो बहती जा रही थी बस बहती जा रही थी. न जाने कब मिलेगी अपने सागर में. कितने ही दिन बीत गये उसे घर से चले. मां–पापा, भाई, सखियां सभी बहुत याद आते थे. उदासी चेहरे पर अपना कब्जा जमाती पर अगले की पल सागर से मिलन की चाह में वो मगन वो फिर चल देती. वो चली जा रही थी अनजानी राहों पर कि पानी का एक अबाध सोता उसके पास बहता हुआ चला आया. कल कल बहता शीतल जल. उसको देख नदी की चंचलता वापस आ गयी. आसपास की ज़मीन पर हरियाली छा गयी. पेड़ पत्ते झूमने लगे. फूलों ने धरा का श्रंगार कर दिया. नदी ने अब गाना-नाचना फिर शुरू कर दिया. प्रेम को जीवन मान उसने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया. नदी पानी के सोते में घुल मिल गयी. चकोर चांद की परछाईं तक रहा था. दिन बीते, साल बीते. नदी सबको भूल गयी. सखी सहेलियां अब बीते दिनों की बातें थीं. उस बरस ख़ूब बारिश हुई. नदी का प्रेम उफन-उफन कर आ रहा था. नन्हें तालाब भी भर गये. तलैयों में भी पानी का प्रवाह जोरों पर था. पानी का सोता उस ओर मुड़ गया. नदी सूखने लगी. धरती का श्रंगार मुरझा गया. फूलों ने हंसना बंद कर दिया. तितलियां उड़ना भूल गयीं. पानी का सोता तालों के ठहरे हुए पानी में जा मिला. नदी ने नाले को सागर समझने की भूल कर डाली. नदी अब दिन रात रोती. नदी के मम्मी-पापा, भाई सब उसको हर दिन याद करके आंसू बहाते रहते. एक दिन दूर देस से बहती हुई हवा आयी उनकी लाड़ली की उदासियों का संदेसा लेकर. मम्मी-पापा, भाई सब भागे अपनी लाड़ली के पास. बहुत देर हो चुकी थी. नदी बस एक पतली धारा सी रह गयी थी. तभी से उन्मुक्त चंचल धारा दो किनारों में बंध गयी. और तबसे आज तक बंधी ही चली आ रही है.

बी- १/२४८, यमुना विहार,
दिल्ली- ११००५३
मो. : ८८२६२७०५९७
ईमेल : dr.upma0509@gmail.com

ग़ज़ल

देवी नागरानी

दर्द की तानें उड़ायेगी ग़ज़ल,
इक अजब खुशबू लुटायेगी ग़ज़ल.

जब भी आयेगी इधर बादे-सबा,
नकहतें सहरा में लायेगी ग़ज़ल.

हैं लबों पर गुल खिले मुस्कान के,
फूल से नगमे सुनायेगी ग़ज़ल.

नफ़रतों की मार से घायल हुए,
प्यार का मरहम लगायेगी ग़ज़ल.

टूटे रिश्तों से बढ़ी वीरानगी,
जीस्त को गुलशन बनायेगी ग़ज़ल.

होंगी रौशन ये अंधेरी बस्तियां,
जब भी 'देवी' गुनगुनायेगी ग़ज़ल.

९ डी, कॉर्नर व्यू सोसायटी,
१५/३३ रोड, बांद्रा (प),
मुंबई- ४०००५०.
ई-मेल : dnangarani@gmail.com

पाठकों/ग्राहकों से निवेदन

कृपया 'कथाबिंब' की सदस्यता राशि मनी ऑर्डर से भेजते समय फ़ॉर्म पर अपना नाम, पता, पिन कोड सहित अंग्रेज़ी में साफ़-साफ़ लिखें. मनीऑर्डर भेजने के बाद पोस्टकार्ड पर पूरे पते सहित इसकी सूचना अवश्य दें. आपकी सदस्यता अगले अंक से लागू होगी. पते में परिवर्तन की सूचना भेजते समय कृपया नये पते के साथ पुराने पते का उल्लेख करना न भूलें.

- संपादक

एक चिंगारी

(नवांकुर)

✍ निथिला

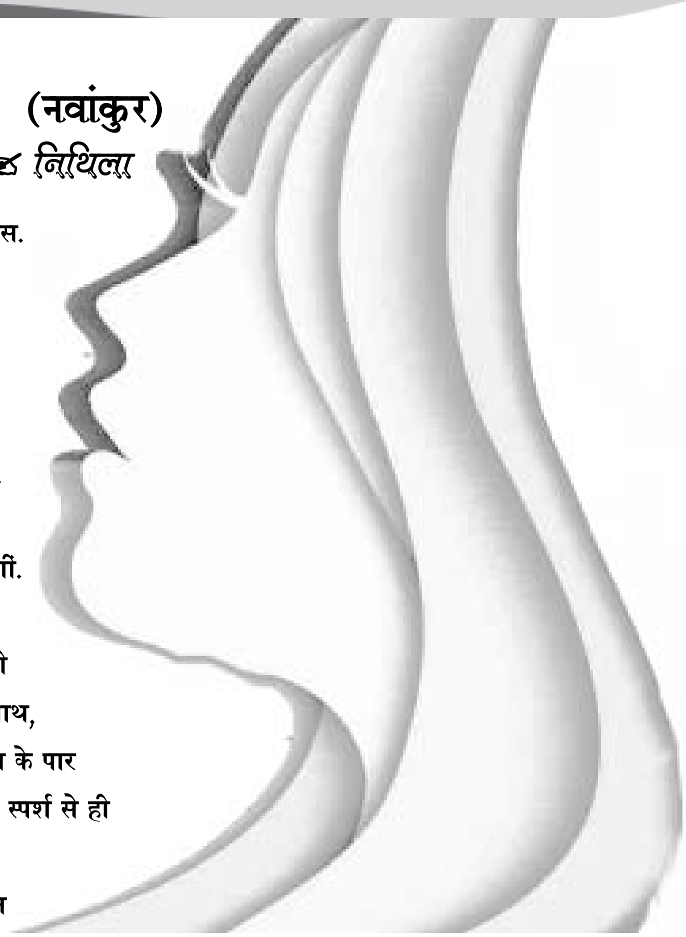

मैं जब बच्ची थी, कक्षा में सर्वश्रेष्ठ,
आज्ञाकारी, सुंदर, कोमल, उदार, बेलौस.
एक दिन चाह जागी,
बनने की सर्वश्रेष्ठ से भी सर्वश्रेष्ठ
लड़नी होगी स्वयं अपनी लड़ाई,
पूरी दुनिया को बदलने की !!
बस मेरे स्वप्न भरने लगे असीम उड़ान,
आकाश को छूने की
इच्छाएं, महत्वाकांक्षाएं पंख पसारने लगीं.
सपनीली आंखों में उनके सच होने की
कल्पना के पंखों पर सवार हो, उड़ चली
आकाश में उड़ते पंछियों के झुंडों के साथ,
सागर की गहरी नीली अथाह जलराशि के पार
सुबह के शीतल नरम ओस के कणों के स्पर्श से ही
मानो होने लगे स्वप्न साकार
सृजन का उपजा एक विचार ! बीज बन
जड़ें फैलाए, सुलगाने लगी एक चिंगारी
जो एक लौ बन ला सकती है
क्रांति या क्रमिक विकास
पर क्यों !! क्यों !! दबा लेते हैं
अपने विचारों को अपने भीतर !!
मसल देते हैं लौ को सुलगने से पहले
लेकिन क्यों !! कैसे मालूम कि वह नाश करेगी
या भर देगी गुनगुनी नर्म गरमाहट या देगी
सुख... प्रेरणा....
उन्हें जिन्हें चाहिए बस एक नन्हीं चिंगारी
माना कि आता है उम्र के साथ ज्ञान
पर उम्र के साथ ही जागती है इच्छा 'ना' की
नया कुछ करने की, विस्तार की,
पंख फैलाने की, बदलाव लाने की
क्यों होते हैं.... हम निडर युवावस्था में
रोशनी की मशाल थामने को अधीर !!
पर युवावस्था की दहलीज लांघते ही
बुझ जाती है आग !
जीते संतुष्ट हो सामान्य, ठंडा, सुस्त जीवन
ज़रूरत है जगाने की आग, एक लौ, सुलगा कर
एक चिंगारी.....!!!

(अनुवाद : मंजुश्री)

C/o. Ms. Tulika Saksena,
40637, Caliente Way,
Fremont CA 94539 (USA)

लेखा-जोखा

| डॉ. अमिता प्रकाश |

दो कहानी संग्रह : रंगों की तलाश एवं पहाड़ के बादल.
एक शोध ग्रंथ : ''कथाकार पंकज बिष्ट एवं आधुनिक भावबोध.''
विभिन्न पत्र पत्रिकाओं यथा - कादंबिनी, सरिता, आधारशिला, उत्तरा, बहुमत, नवल आदि में प्रकाशन.
आकाशवाणी अल्मोड़ा एवं नजीबाबाद से कहानियों एवं वार्ताओं का प्रसारण.

कल रात भंयकर तूफ़ान और गरज-तरज के साथ पड़े ओलों ने खड़ी आड़ू, पुलम, खुबानी की फ़सलों को बहुत नुक़सान पहुंचाया है. शाम से ही बादलों के झुड़ों ने आकर, पहाड़ियों को चारों ओर से घेर लिया था. चीड़ और बांज के पेड़ों पर बादलों ने लिपटना शुरू कर दिया था. बिजली बार-बार बादलों को चीरती पहाड़ी पर सेना की तरह खड़े ऊंचे-ऊंचे चीड़ के पेड़ों पर ऐसे बलखाती लिपट रही थी जैसे कोई वर्षों से बिछुड़ी प्रेमिका क़ैद के बंधनों से आज़ाद होकर, आतुरता से अपने प्रेमी पर लिपट रही हो. परुलि जब भी पहाड़ के ऊपर खड़े कतारबद्ध उन पेड़ों को देखती है तो अपनी आमा द्वारा सुनाई कहानी उसे बरबस ही याद हो आती है कि — ''तुझे पता है परू! ये पेड़न कभी मनिख ही थे, असल में एक बरात थी, जो पहाड़ के दूसरी तरफ़ के गांव जा रही थी.''

''अच्छा!'' आश्चर्य उभर आता उसकी छोटी-छोटी आंखों में. जब ये मनिख थे तो पेड़ कैसे बन गये? ऐसे कैसे हो सकता है आमा?'' उसका बालमन जिज्ञासा में प्रश्न उठाता.

''हुआ था परू, ऐसा ही हुआ था'', दादी आवाज़ को रहस्यमयी बनाते हुए कहतीं — ''वो देख वो जो बीच वाला छोटा पेड़ है न, वो घोड़ा था.'' ऊंचे-ऊंचे चीड़ के पेड़ों के बीचों-बीच छोटे झुके पेड़ दूर से देखने पर वास्तव में घोड़े जैसे ही दिखाई देते.

''तू भी न दादी!, ऐसे तो कई पेड़ हैं, झुके हुए.'' परुलि जान बूझकर आमा से विस्तार में पूरा क़िस्सा सुनने के लालच में छेड़ते हुए कहती... भले ही उसकी आंखों से छलकती हंसी दादी से भी छुपी नहीं रहती थी, फिर भी वह बड़ी गंभीर हो जातीं.'' आजकल की पीढ़ी तो अपने बराबर किसी को समझती ही नही,'' और झुंझला

उठती — ''अब कोई कथा नहीं सुनाऊंगी मैं तुझे,'' कहकर पीठ फेर लेतीं.

परुलि से दादी की नाराज़गी बर्दाश्त नहीं हो पाती थी. मां से दूर रह सकती थी वह पर, दादी के बिना तो ऐसे लगता उसके प्राण ही निकल जाएंगे. जब कभी दादी अपनी अक्षमता से खीज कर कह उठती — ''हे गोलज्यू अब तो उठा ही लो मुझे!'' तो आमा के वाक्य पूरा होने से पहले ही परू का रोना-धोना शुरू हो जाता — ''आमा देख लेना मैं भी तेरे ही साथ ही आ जाऊंगी, तू जहां जाएगी.''

''छिः भई इस चेलि के सामने तो कुछ बोलना ही नहीं ठहरा,'' दादी, पोती के इस प्रेम से विह्वल हो अनायास ही छलक पड़तीं. परूलि को तब लगता कि सचमुच जिस दिन उसकी दादी उससे अलग होगी उस दिन वह भी मर जाएगी. ''पागल है तू ऐसा भी कभी होने वाला ठहरा!'' आमा उसके भोले स्नेह पर जान छिड़कते हुए कहती और फिर कथा के सूत्र पकड़ती हुई कहती — ''हां तो पहाड़ी पर चढ़ते-चढ़ते रात हो गयी बारात को, तब आज की तरह गाड़ी का ज़माना जो क्या ठहरा जो मिनटों में पहुंच जाते. रात में भूतों ने घेर लिया बल और कहने लगे कि जो कुछ भी डाली-बिडाली (फल-मिठाई की टोकरी) का सामान है सब हमें दे जाओ. बारात में एक पंडित जी भी थे जो भूतों को वश में करने की विद्या जानते थे, लेकिन जैसे ही उन्होंने मंत्र पढ़ने के लिए अपनी पोथी निकाली एक भूत की नज़र पड़ गयी ठैरी उन पर, उसने भी आव देखा न ताव और पूरी बारात को अपनी भूत विद्या से पेड़ों में बदल दिया.'' सुनकर झुरझुरी-सी फैल गयी परुलि के बदन में.'' आज भी कहते हैं कि उन पेड़ों को काटने पर ख़ून आ जाता है, आमा परुलि की झुरझुरी का आनंद लेते हुए कहतीं, और फिर ख़ुद ही समझातीं — ''तू डर क्यों रही है चेलि? ये पहाड़ दिखते नज़दीक हैं... दिखते ऐसे हैं कि बस हाथ बढ़ाकर हम छू ही लेंगे, लेकिन ये हमेशा हम मनिखों की पहुंच से बहुत ही दूर रहने वाले ठहरे.'' दादी के 'बहुत ही' में जो जोर लगता वह परुलि को आश्वस्त कर देता कि जिस पहाड़ और पेड़ों की कथा आमा सुना रही है उनके भूत उससे बहुत दूर हैं. वह बचपन था, जब उसे पहाड़ दूर लगते थे लेकिन आज तो लगता है जीवन का हर क्षेत्र पहाड़ बन गया है दुर्लंघ्य पहाड़.

ख़ैर रात के उस अंधड़ में गिरने वाले ओलों ने उसके जीवन के पहाड़ को और भी दुर्लंघ्य बना दिया था. ओलों की मार से सारे दानों पर घाव लग गये हैं... एक-एक दाने को उलट-पलट कर देख रही परुलि की आंखों में आंसू रह-रहकर उभर आ रहे हैं. कितनी आस थी उसे... इस बार फल अच्छा आया था...उसने सभी बच्चों को आगाह कर दिया था — ''ख़बरदार जो मुझसे पूछे बिना तुमने एक भी दाना तोड़ा...! जब खाने की इच्छा होगी तो मुझसे मांग लेना.'' रोटी चबाते तीनों बच्चों ने टुकर-टुकर उसकी तरफ़ देखा... मुंह में रोटी भरी थी और ऊपर से दूध के गिलास से दूध सुड़ुक कर जब रोटी निगल ली तो बड़ी बेटी भावना बोली — ''मां और अगर तू जंगल या फिर खेत में या दूध बेचने बाज़ार गयी होगी और उस समय हमारा मन करेगा तो?'' परुलि को बालमन की इस सरल पहेली पर खीज के साथ-साथ प्यार आया. लेकिन फिर प्यार को दबाते हुए बोली — ''तब भी... जब मैं आऊंगी फल मैं ही तोड़ कर दूंगी. तुम्हारा क्या है. बानरों की तरह एक खाओगे और दस बरबाद करोगे.''

लेकिन आज उन्हीं फलों का इस तरह चौपट हो जाना, उसके मन में टीस जगा रहा है. टीस होगी भी क्यों नहीं? आख़िर पांच प्राणियों के सालभर की गुजर-बसर का दारोमदार इन्हीं डाली-बोटियों पर तो रहता है. पांच तो मनिख ही हैं, और फिर गोर-बछरू. इनका पालन पोषण भी तो इन्हीं की ज़िम्मेदारी है. परुलि ने लाड़ से पेड़ों को निहारते हुए देखा, जैसे मां दिनभर मारने कूटने के बाद रात को अपने सोते हुए बच्चों को निहारती है. पांच प्राणियों के पालक इन पेड़ों के बारे में सोचती परुलि के मुंह में जैसे किसी खुबानी की कड़वी गिरी चली गयी हो. ''मनिख तो चार ही हैं. वह ख़ुद और उसकी दो बेटियां और बेटा- इनका बाप तो मनिख कहलाने लायक भी कहां है.'' बड़बड़ाती हुई वह फिर से बीनने लगी सारे दानों को. एक-एक को मोती की तरह सहेजते-समेटते उसने निश्चय किया कि आज ही बाज़ार में बेच आयेगी. फल तो फल ही है, अधपका ही सही, रस तो भर ही गया है उनमें आधे-पौने दामों पर ही सही. ऐसे साल भर की मेहनत को बरबाद नहीं जाने देगी वह.

उसने भावना को आवाज़ दी — ''भानु ओऽऽ भानु! देख इजा मैं बाज़ार जा रही हूं, दो-चार दाने जो हाथ लगे हैं उन्हें ही बेच आती हूं. क्या पता दो-चार डबल हाथ आ

जाएं. तू कल जंगल से लाए हुए काफल भी ले आ.'' कहकर वह समेटने लगी सभी फलों को अलग-अलग.

''लेकिन मां गाड़ी तो बंद हैं, कल की बारिश में सड़क टूट गयी. अभी धार में रहने वाले प्रवीन दा कह रहे थे. देख उनकी गाड़ी भी वहीं खड़ी है...'' छोटी-सी उंगली से इशारा करते हुए भानु ने मां को समझाने की कोशिश की. भानु अभी केवल ग्यारह साल की है. पांच में पढ़ रही, गांव के ही प्राइमरी स्कूल में..., अगले साल से बाज़ार के बड़े स्कूल में जायेगी... कितने ही ख़र्चे बढ़ जायेंगे — रोज़ आने-जाने का ही बीस-तीस रुपये से नीचे कहां ख़र्चा होगा? फिर फ़ीस, कॉपी-क़िताब... वह तो भला हो सरकार का जो हम ग़रीब-गुरुबों के लिए स्कूल में दाल-भात और क़िताबों की व्यवस्था है, अब तो सुना है कक्षा आठ तक कपड़े भी स्कूल में ही मिलने लगे हैं, नहीं तो कहां भेज पाती भानु को आगे स्कूल शराबी बाप के साथ...? मन ही मन परुलि सरकार को धन्यवाद दे रही थी कि अचानक से उसके मन में दूसरे ही ख़्याल ने सरकार के लिए नफ़रत भर दी...'' रणकरे! एक तरफ़ तो ऐसे लोक कल्याण के काम गिनागिनाकर ऐसा दिखाते हैं जैसे न जाने कितना ख़्याल होगा इनको हम ग़रीबों का... लेकिन हमारी इस हालत के लिए क्या ये ज़िम्मेदार नहीं हैं? शहर तो छोड़ो गांव-गांव में शराब के ठेके खुलवाकर काम करने वालों को तो लूला-लंगड़ा बना दिया, किसी काम-काज लायक छोड़ा नहीं और आज...'जनकल्याण'...,खार पड़ जाए इनके... ऐसी भीख न देते और इंसान को इंसान बना रहने देते...परुलि ने लंबी सी सांस छोड़ी... क्या-क्या जो झेलेगी वह?

पति की रोज़ की मारपीट-गाली गलौज से वैसे ही शरीर टूटा रहता है. अमानुष कहीं का... इतना तो जानवर भी समझता है. तीन-तीन बच्चों को पैदा करने में शरीर का ख़ून वैसे ही निचुड़ गया है, अब तो कंकाल भर है जिसको ढकना मांस का धर्म है. वरना... उस कंकाल को भी, जब पीकर आता है तो चील-गिद्ध की तरह नोच डालता है. जब तक वह थकता नहीं तब तक ऐसे रौंदता है जैसे बैल अपने पैरों के नीचे मंडुवा-झुंगरे की बालियों को रौंद रहे हों. मना कर दिया तो फिर मुंगरे से चूटने लगता है जैसे कि दाल चूटी जा रही हो. अमानुष को उसके दर्द का जरा भी आभास नहीं. आख़िर किस जनम के पापों की सज़ा भुगत रही होगी वह? और फिर कर्मों का फल सोचकर लग जाती है. परुलि अपने काम पर.

''ज़रूर पिछले जनम के पाप होंगें लाटी.'' मां से जब उसने अपनी व्यथा कही तो, मां ने विवाहिता बेटी की ज़िम्मेदारियों से बचने में ही भलाई समझी थी. उसे समझाते हुए कहने लगीं — ''कौन बुरा चाहता है अपने कलेजे के टुकुड़ों का? हमने तो देखभाल कर ही चुना था... क्या सुदर्शन था तब? पूरे गांव में ऐसा सुंदर दूल्हा नहीं आया पहले. सभी ने कहा दिल्ली की दुकान में मैनेज़र है. तेरे बाबू तो देख भी आए थे दिल्ली. ठीक-ठाक ही था सब कुछ. अब चेली! तेरा ही भाग ख़राब है तो भुगतना तो तुझे ही पड़ेगा. भाग तो सब अपना ही लाते हैं. हम मां-बाप के लिए तो जनम भर का दुख हो गया पर. हम कर भी क्या सकते हैं?'' मां के व्यासजी सरीखे उपदेशों को सुनकर परुलि को अहसास हो गया था कि घाव को खुले छोड़कर सबको दिखाना ठीक नहीं है... कुछ भी हो नुक़सान ख़ुद ही झेलना पड़ेगा, और फिर परुलि ने कमर बांध ली थी. अब तक तो मोहन जो कुछ करता था. जैसा भी करता था. उसी से वह घर चला रही थी. लेकिन अब उसने घर की कमान अपने हाथ में लेने की सोच ली थी. और इस दिशा में पहला क़दम उठाया उसने गांव की आशा कार्यकत्री की सहायता से नसबंदी करवाकर. वह भयानक रात वह कैसे भूल सकती है? नसबंदी के बाद दो रात तक तो मोहन पीकर बेसुध रहा... पर तीसरी रात जब जरा होश में आया तो फिर लगा परुलि को नोचने-खसोटने पहले तो वह मना करती रही, समझाती रही. पर जब नहीं माना वह, तो उसे बताना ही पड़ा कि उसके टांके दुख रहे हैं. यह सुनकर तो जैसे मोहन पर हैवान ही सवार हो गया. ''साली बेगैरत, बेशर्म! मुझसे बिना पूछे नसबंदी कर लायी. जानता हूं मैं तेरी जात... साली अब मजे से गुलछर्रे उड़ाएगी, वह परुलि जो अभी तक रो रही थी. दर्द से चिल्ला रही थी, अपने ख़ून रिसते टांकों की दुहाई दे रही थी. यह सुनकर जैसे रणचंडी बन गयी. वह फुर्ती से उठी. अब शरीर के घाव पर मन का घाव सवार हो गया था. पास ही पैंया (पदम) का डंडा पड़ा था. उसने उठाया डंडा और जैसे गद्दा साड़ रही हो — ले दनादन ''हां साले! हरामी कुत्ते! गुलछर्रे मैं तब उड़ाऊंगी, जब तू मरेगा. तो पहले आ तेरी ही संग्राद बजा दूं.'' वह गाली दिए जा रही थी. मोहन उसका रौद्र रूप देखकर ऐसे भागा जैसे कुत्ता दुम दबाकर भागा... लेकिन जाते-जाते

अहं के विषधर ने फुफकार मारी — ''रुक तू रंडी आज तूने विनाश को बुला लिया है. कल ही तुझे घर से निकालता हूं. साली — कुतिया! कहकर वह अंधेरे में खो गया.

कई कल गुज़र गये. मोहन के पीने की आदत तो नहीं छूटी, लेकिन अब वह वहशियत, हैवानियत नहीं रही. अब परुलि अपने बच्चों के लिए मां भी है और बाप भी. दो भैसों को पालकर उनका दूध बेचकर उसने जो शुरुआत की वह चल निकली है. जाड़ों के दिनों में माल्टा-संतरा, नींबू-आंवले और चैत-फागुन में बुरांश के फूल तथा गर्मियों में आड़ू खुबानी, पुलम और काफल उसके व्यवसाय को विस्तार देते हैं. बाक़ी थोड़ा बहुत घास काटकर, लकड़ी बेचकर परुलि के जीवन की गाड़ी चल ही रही है.

इस गृहस्थी की गाड़ी में ब्रेक तब अनायास लग जाता है जब प्रकृति अपना कहर ढाती है... 'अमानुष' (अमानुष ही नाम रखा है परुलि ने अपने पति का).. को तो किसी तरह उसने बस में कर लिया. लेकिन इस प्रकृति को बस में करने की. उससे जूझने की क्षमता कहां है उसमें? आजकल तो जैसे प्रकृति ने भी कसम ले रखी हो कि उसकी क़िस्मत में लिखी सज़ा उसे दिलानी ही है. तभी तो कभी ओले-अंधड़. तो कभी बादल का फटना, और कुछ नहीं हुआ तो सूखा. पहले सालों में होती थी प्रकृति की ऐसी घटनाएं. लेकिन अब तो? ...परुलि को मां की बात याद आती है — ''करम का लिखा...'' हे भगवान! मेरे लिए ही इतना बुरा क्यों लिखा? बाज़ार में, चौराहे पर बैठी परुलि अख़बार के कोन बनाती सोचती रहती है. क़िस्मत का लेखा-जोखा हमेशा मन में चलता ही रहता है. इस लेखे-जोखे के हिसाब में व्यवधान तब पहुंचता है जब कोई ग्राहक आकर उसे चेतना में लाता है — ''कैसे दे रही हो काफल?''

''बाबूजी बीस रुपये का गिलास'', वह स्टील का छोटा-सा गिलास निकालते हुए उम्मीद से पूछती है — ''कितना दे दूं?''

''अरे... कितना क्या दे दूं...? कौन लेगा इतना महंगा काफल...? तुमने तो लूट ही मचा रखी है.'' यह सुनकर परुलि के भीतर छुपी रणचंडी फिर जाग उठती है लेकिन वह थूक निगलकर बिठा देती है उसे... ''अरे साहब! महंगे कहां हैं? कितनी मेहनत लगती है इन्हें बीनने में?''

''अच्छा चलो पंद्रह का गिलास दे दो.'' सामने सूटेड-बूटेड साहब कृपा दिखाते हुए कहते हैं, और फिर जोड़ते हैं — ''तुम्हारी मेहनत के लिए ही तो दे रहा हूं पंद्रह रुपये, वरना यह तो प्रकृति में बिना किसी मेहनत के हो जाता है.'' वह जताते हैं कि वह मूर्ख नहीं वरन् दयावान हैं.

''प्रकृति मुफ़्त में कुछ नहीं देती बाबू साहब! हर वस्तु की क़ीमत होती है इस दुनिया में. मां-बाप जन्म देते हैं तो क़ीमत मांगते हैं कि हमारे घर की इज्जत बनाये रखना, पति और ससुराल तो अंतिम समय तक औरत से क़ीमत ही वसूलते रहते हैं. जिस हवा-पानी, फल-फूल को तुम जैसे मुफ़्तख़ोर समझते हैं कि मुफ़्त का है. मुझसे पूछो उसकी क़ीमत. जाड़ा-गर्मी-बरसात देखे बिना मां की तरह पालना-पोसना पड़ता है इन डालि-बोटियों को, तब मिलता है यह सब. जिन काफलों को जंगली और मुफ़्त का बता रहे हो तुम उसकी क़ीमत मुझसे बेहतर कौन बता सकता है? चेहरे पर आंख के पास लगे टांकों पर अनायास ही उसका हाथ चला गया. दो साल पहले जब काफल के पेड़ से गिरकर नीचे हिंसालू के झाड़ में गिरी थी वह तो दो दिन तक ज़िंदा है या मर गयी उसे यह भी नहीं पता था. कूल्हे की हड्डी पर बाल आ गयी थी...

''अच्छा हुआ जो झाड़ के ऊपर गिरी, अगर पथरीली ज़मीन पर गिरती तो कमर टूट जाती.'' डॉक्टर ने जब कहा तो अनायास ही अपने छोटे-छोटे बच्चों के चेहरों को याद कर बच्चों जैसे ही रो पड़ी थी वह. ऐसे न जाने शरीर पर कितने घाव हैं जिनको वह दिखा भी नहीं सकती है, और तुम्हारे जैसे बाबू यहां खड़े होकर उसकी क़ीमत तय करने लगते हो...? इस सूट-बूट को लेते समय भी किया था क्या तुमने मोल-भाव? उसे भी कहा था क्या लुटेरा? गाड़ी में बैठी तुम्हारी बीबी जो होंठ पोत रही है लिपस्टिक से क्या उस लिपिस्टिक का भी मोल-भाव किया कभी? परुलि चीख़-चीख़ कर पूछना चाह रही थी उस कृपालू साहब से... लेकिन आवाज़ गले में कहीं चिपक गयी थी च्युंगम की तरह...सिर्फ़ इतना ही बोल पायी —''नहीं साहब बीस रुपये से एक रुपया कम नहीं,'' और फिर खो गयी अपने भाग्य के लेखे-जोखे में.

सहायक प्रवक्ता, हिंदी,
गवर्नमेंट डिग्री कॉलेज़,
सोमश्वर, अलमोड़ा- २६३६३७ (उ.खं)

बाबूलाल भंगी

| सिद्धेश |

पिछले कई दिनों से शहर में ख़ूब ठंड पड़ रही थी. उस पर महामारी का कहर. पास के मकान में एक हादसा हो ही गया था. वह घर का बुज़ुर्ग था. मगर काफ़ी कर्मठ था. घर के अन्य सदस्यों से पहले भोर में उठता. उसके बाद सब उठते. बरामदे और देवालय के निकट गंदगी को साफ़ करता. यहां तक कि सफ़ाईकर्मी के आने के पहले कचड़े की थैली तैयार रखता, जिससे कि भंगी की सीटी के साथ-साथ उसके डब्बे में फेंक सके.

मोहल्ले में अधिकतर लोगों के उठने से पहले थैली लेकर बाज़ार की तरफ़ निकल जाता. यह उसका रोज़नामचा था.

वह दो-चार की बीमारी की बात सुनता तो उसके कान खड़े हो जाते. लेकिन जब वह ख़ुद महामारी की चपेट में आ गया तो लोग चौकन्ने हो गये. उसके आसपास के लोग उसके मकान के निकट होने से कतराने लगे. आख़िर वह जब चल बसा तब उसके परिवार की चीख़ चिल्लाहट से लोगों को पता चला.

दाह-संस्कार के बाद उसका एकमात्र लड़का लौटा तो लोगों ने उसे घेर लिया. पता चला कि उसके बाप की अंत्येष्टी क्रिया के साथ तेरह और लोगों के शव थे, जिन्हें श्मशान घाट में लाया गया था.

कुछ दिनों के बाद यह दुखद घटना लोग भूलने लगे थे. फिर सब सामान्य हो गया. सुबह-सुबह बाबूलाल की बार-बार सीटी के बावजूद फ़्लैटवाले लोग नीचे नहीं उतरते. इससे बाबूलाल भंगी को नयी तरक़ीब सूझी. वह प्रत्येक फ़्लैट और मकान के सामने आकर सीटी बजाने के अलावा जोर-जोर से पुकारता, 'माईजी उठिए. डब्बावाला आ गया है.' या 'भैय्या, बहूजी, भोर हो गयी है.'

इस पर कुछ लोग उठते, कुछ नहीं. इससे उसकी कवायद बढ़

१७ अगस्त १९३८ (बिहार),
एम. ए. (हिंदी), कलकत्ता वि. वि., १९६२.

लेखन : देश की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लगातार कहानियां प्रकाशित.

प्रकाशन : १२ कहानी संग्रह, लघु उपन्यास : केंचुल.

संपादन : 'परंपरा' (मासिक), समवेत (त्रैमासिक), भारतीय भाषाओं की कहानियां एवं हिंदी की श्रेष्ठ कहानियां की बांग्ला पुस्तक, अनुवाद एवं संपादन; साहित्य के सरोकार (आत्मकथ्य – प्रकाशनाधीन); अनेक पुरस्कारों / सम्मानों से अलंकृत; बांग्ला की किशोर पत्रिका आनंद मेला में १९ सालों तक उपसंपादक.

संप्रति : स्वतंत्र लेखन.

जाती. वह आसपास सड़क पर फेंके कूड़ा-करकट को झाड़ू लगाने से लेकर सूखे पत्तों के ढेर को उठाने में समय जाया करने लगा था. तब भी कुछ घरों के दरवाज़े खुलते, बाक़ी दोबारा आकर बंद दरवाज़े को दस्तक देना पड़ता था. कई बड़े सेठ और अमीर लोगों ने बाबूलाल को माहवारी पर लगा रखा था.

'बाबू, तुम ऐसा करो, ऊपर से उतरने में तकलीफ़ होती है, ख़ुद नीचे रखे मैले की सफ़ाई कर लिया करो. महीने में बख़्शीश दे दी जाएगी.'

बाबूलाल भंगी को और क्या चाहिए था. ऐसा करते रहने पर उसकी तकलीफ़ बढ़ गयी थी. पर अतिरिक्त आमदनी की ख़ातिर अपने हिस्से में यह दोजख़ वाला काम ले लिया था. जिससे उसके गिरते स्वास्थ्य पर असर पड़ना वाजिब था.

☐

बाबूलाल वैसे था तो सरकारी ताबेदार लेकिन उसे लोग दूसरी नज़र से देखते थे. पूजा-पर्व पर उसे अलग से बख़्शीश देते रहे.

'क्यों बाबूलाल, गांव-घर नहीं जाते? थोड़ा अपने स्वास्थ्य पर भी तो ध्यान देते, दिन पर दिन कमज़ोर होते जा रहे हो.'

'हां मालिक, इस बार गांव चला जाऊंगा. सरकारी नौकरी से छुट्टी पा लूं.'

'तो क्या, इस साल रिटायर हो रहे हो?'

'हां, बाबू.'

'छुट्टी लेकर कुछ दिन गांव हो आओ.'

'मालिक, मेरी जगह पर कोई आवे तब न.'

'रिटायर करने के बाद, यह उनका सरदर्द होगा.'

'हां बाबू, अभी से किसी को लगा दें तो वह आप लोगों से हिलमिल भी जाएगा और बाद में तकलीफ़ कम होगी.'

...ऐसा ही हुआ. फ़्लैटवाले, मोहल्ले वाले सभी बाबूलाल का इंतज़ार करते रहे, लेकिन आया तो एक नया भंगी, जिसे किसी से कोई मतलब नहीं था. उसने लोगों को जगाने के लिए बार-बार सीटी भी नहीं बजायी. एक-दो बार बजाकर मोहल्ले से निकल जाता. लोग परेशान हो गये. कहीं बाबूलाल की तबीयत ख़राब तो नहीं हुई? नहीं, वह कुछेक दिन की छुट्टी लेकर गांव देहात चला गया था?

'क्या तुम नये आये हो? बाबूलाल की जगह?'

'हां सरदार. उसकी तबीयत ठीक नहीं है, इसलिए छुट्टी ले ली है.'

'यहीं है या ...?'

'पता नहीं.'

'भाई, तुम जरा जोर से सीटी बजाया करो. लोगों की आदत है देर से उठने की. कई बार तो पता ही नहीं चलता है कि तुम आकर चले भी गये.'

'मैं उसकी जगह पर ड्यूटी बजा रहा हूं. लोगों को बुला-बुलाकर थोड़े ही सफ़ाई करना है? देखिए, रास्ता एकदम साफ़ है, कहीं भी एक पत्ता या जूठा पत्तल नहीं मिलेगा.'

'सो तो है.' लोग चुप लगा जाते. बाबूलाल के स्वस्थ होने का इंतज़ार करते. लेकिन कब तक? इस साल ही तो उसका रिटायरमेंट है. दो-चार दिन बाद जब बाबूलाल काम पर आया तब उसे देखकर लोग अचंभित हो गये. वह बहुत दुबला-पतला हो गया था, जैसे कि वह शुगर का रोगी हो. उसने मुख पर मास्क लगा रखा था और वह लंगड़ा कर चल रहा था.

क्लब के ही एक सदस्य ने पूछा, 'अब कैसे हो बाबू लाल? गांव से कब लौटे?'

'कहां, गांव नहीं गया था सरकार. यहीं रह कर दवा-दारु करायी है.'

'बहुत कमज़ोर हो गये हो. रिटायरमेंट के और कितने दिन बाक़ी हैं.'

'याद तो नहीं है ठीक से बाबू, लेकिन सरकारी मुलाजिम का कहना है कि थोड़े दिन और हैं, हो सकता है कुछ महीनों और रहना पड़ जाये.' वह रास्ते पर झाड़ू देते हुए बोलता जा रहा था.

'तुम क्या चाहते हो, करोगे कुछ दिन और?'

बाबूलाल झाड़ू-एक किनारे रखते हुए बोला, 'कैसे कहूं मालिक. कर पाऊंगा या नहीं, मगर रिटायर करने तक तो रुकना ही पड़ेगा ना.'

वह झाड़ू उठाकर डब्बे को ढेलते हुए जाने के लिए बढ़ा ही था कि सदस्य दिवाकर ने कहा, 'स्वेच्छा अवकाश क्यों नहीं ले लेते? तुम्हें आराम की ज़रूरत है.'

'नहीं बाबू, जब तक दम है तब-तक तो रुकना ही पड़ेगा. घर-परिवार है फिर यह तो सरकारी चाकरी है न.' यह कहकर वह दूसरी गली में घुस गया और एक लंबी सीटी बजायी.

कोई-कोई उसे भंगीवाला भी कहते तो वह नाराज़ नहीं होता था, बल्कि मन ही मन ख़ुश होता था कि लोग उसे सही नाम से जानते तो हैं. उसकी औक़ात ही क्या है? वह उस मकान के सामने से ग़ुजर रहा था, जिसमें 'करोना' से बीमार बूढ़े बाबा गुज़र गये थे. उसने असहाय नज़रों से उस मकान में बने देवालय की तरफ़ देखा, जो सुनसान पड़ा था. कोई चहल-पहल नहीं, नहीं तो बूढ़े बाबा की आवाज़ मकान से गूंजती रहती थी. वह हड़बड़ाकर वहीं पास के ओटे पर बैठ गया. वह सुस्ताना चाहता था. कुछ दिनों तक ऐसे ही चलता रहा. प्रत्येक दिन बाबूलाल ठीक समय यानी अलस्सुबह आने लगा था. लोग निश्चिंत हो गये थे. मगर पहले की तरह वह जोर-जोर से पुकारता नहीं था. सीटी बजाने का तरीक़ा भी बदल गया. कई बार तो वह घर से निकलते समय सीटी लेना भूल जाता तो उसकी परेशानी बढ़ जाती थी. वह आहिस्ते से देर से उठने वाले घरों के दरवाज़े पर दस्तक देता, कभी-कभी लोग झुंझला जाते और उसको खरी-खोटी सुना दिया करते थे.

'क्यों नींद हराम कर देते हो भाई. हमारी आदत एकदम सुबह-सुबह उठने की नहीं है.'

बाबूलाल इन बातों का बुरा नहीं मानता था. वह सोचता, उसको क्या पड़ी है. यही सोचकर उसने जानबूझकर तकरार करना छोड़ दिया था. दूसरी सुबह आने पर देखा कि ऐसे मकानों के सामने ढेर सारे जूठे पतल, सूखे सब्ज़ियों के डंठल, काग़ज़ के टुकड़े पड़े हैं. उन्हें सड़क के मैलों के साथ उठाकर डब्बे में भर लिया फिर घसीटता हुआ आगे बढ़ गया. वह मन मारकर अपनी ड्यूटी बजाने लगा था.

कुछ दिनों के बाद फिर से ग़ायब हो गया तो लोग सकते में आ गये. सोचा, फिर से उसकी तबीयत ख़राब हो गयी है. वह गांव चला गया होगा. उसके रिटायर होने में शायद कुछ ही दिन रह गये होंगे.

यही सोचकर लोग आश्वस्त थे कि वह आयेगा तो ठीक ही. मगर वह नहीं आया तो लोग सकते में आ गये.

एक सुबह फिर से सीटी की आवाज़ सुनी तो लोग सचेत हो गये. अपने-अपने घरों से जमे कूड़े-कचड़े को लेकर बाहर आये तो देखा कि बाबूलाल की जगह कोई दूसरा नवजवान व्यक्ति सड़क पर झाड़ू लगा रहा था. मकान के एक सदस्य ने पूछा, 'बाबूलाल गांव से अब तक नहीं लौटा?'

उस नवजवान भंगी ने कोई जवाब नहीं दिया. वह अपने काम में मशगूल रहा.

लघुकथा

अतीत

✍ डॉ. दिनेश पाठक 'शशि'

रमुआ के घर सत्यनारायण की कथा में पूरे गाम की औरतें इकट्ठी हुईं थीं. औरतों से घिरे पंडित जी कथा की तैयारी कर रहे थे. रमुआ और उसकी पत्नी पंडित जी के आगे आसन पर बैठे हुए थे तभी कमरे के अंदर से रमुआ के छोरा की बहू की जोर-जोर से खिलखिलाने की आवाज़ सुनकर सारी औरतें चौंक उठीं.

कुछ औरतें हंसने की आवाज़ सुनकर आपस में इशारा करते हुए मन ही मन हंसने लगीं तो कुछ को कानाफूसी करने का अवसर मिल गया. कुछ बड़ी-बूढ़ियों पर नहीं रुका गया तो वे बोल पड़ीं – 'अरे रमुआ जी तेरे छोरा की बहू कैसी पढ़ी-लिखी है रे? न सास-ससुर की लिहाज और न गाम की औरतन की ही. कैसा बेशरमी ते खिलखिलाय रही है.'

रामा बुआ की बात सुनकर सुधा भी बोल पड़ी – 'हां रमुआ, कह तौ ठीक ही रही है रामा बुआ. अरे हमारे छोरानु की बहू तौ अपने ससुर के आगे हंसबौतौ भौतु दूरि, अपनी सास-ननद के आगे हू जुबान नांय निकारि सकै है.'

औरतों की बातें सुनकर रमुआ मुस्करा दिया – 'बात ये है दादी कि इस बहू की हंसी सुनकर मेरा ख़ून बढ़ जाता है इसलिए मैंने ही इसे हंसने की छूट दे रखी है.'

'कहूं पागल तौ नांय है गयौ रमुआ? सिगरे गाम में एक तू और तेरे छोरा की बहू ही पढ़े-लिखे भये हैं का? और सब मूरख बसैं हैं का सिगरे गाम में जिनके छोरानु की बहुएं चूं भी नांय कर सकैं हैं काऊ के सामने.'

बिरमा दादी को ग़ुस्सा होते देखा तो रमुआ ने समझाया – 'बात ये है दादी कि मुझे इसे हंसते हुए देखकर इस बात की खुशी होती है कि किसी पराये घर की बेटी मेरे घर में इतनी सुखी है तभी तो वह खिलखिलाकर हंस पा रही है, नहीं तो घर की बहुओं को घुट-घुटकर मरते तो पीढ़ियां बीत चुकी हैं.'

रमुआ का उत्तर सुन सभी औरतें अपने अपने अतीत में पहुंच गयीं.

✉ २८, सारंग विहार, मथुरा-२८१००६. मो. : ९८७०६३१८०५

'कल तो कोई दूसरा था, आज से तुम लगे हो, क्या, माजरा क्या है?'

'आज से मैं ही आऊंगा, जब-तक कि कोई ख़ास व्यक्ति नहीं रुक जाता.'

'तुम्हारा नाम क्या है? क्या अब बाबूलाल नहीं आयेगा?'

'नहीं, मेरा नाम राजू है. वह यहां रहते हुए ही चल बसा.'

'कब?'

'कई दिन हुए. उसके रिटायर होने में चार-पांच दिन और रह गये थे.'

राजू झाड़ू लगाते हुए बढ़ गया. तब तक मोहल्ले के और कई लोग बाहर निकल आये थे. लोगों को लगता था कि बाबूलाल की आत्मा अब भी इस इलाक़े में घूम रही है. केवल सीटी की आवाज़ नहीं बजती. धीरे-धीरे लोग उसकी अनुपस्थिति के प्रति आश्वस्त होते गये.

✉ १/१७, आदर्श पल्ली,
आशा अपार्टमेंट, पो. रीज़ेंट एस्टेट,
कोलकाता-७०००९२.
मो. :९८३०८५९६६०.

धरती की बेटी

| डॉ. लता अग्रवाल |

'क्या री! सारा दिन यहां-वहां कूद मचाती रहती है पोरी.' सकू ने बेटी शेवंती को डांटते हुए कहा.

'अरे ! आई (मां) सोनी और मंजुला के संग खेत में गयी थी,' शेवंती बोली.

'बस हुआ तेरा रोज़-रोज़ खेत में कूदना फांदना. शेवंती, अब तू बड़ी हो गयी है, घर पर रहकर अपनी भाभी से कुछ रसोई के काम सीखा कर.'

'आई! तुमसे तो मेरे अप्पा अच्छे हैं. तुम हमेशा मुझको डांटती रहती हो. मेरे अप्पा देखो कितना प्यार करते हैं मुझको.'

'पोरी! तेरी भलाई के लिए ही बोलती मैं. अरे लड़की जात है, कल को ससुराल जाएगी तो रसोई तो पकाना ही पड़ेगी न.'

'अरे! क्या हुआ भागवान किसको गीता का ज्ञान दे रही हो.' शेवंती के पिता ने अंदर प्रवेश करते हुए कहा.

'लो, इनकी सुनो, इन्हें तो मेरी बात हमेशा उपदेश ही लगती है. अरे भूल रहे हो बेटी के बाप हो, क्या उसे बेटी वाले संस्कार नहीं दोगे?'

'तू भी कैसी बात करती है... संस्कार भी कोई देने वाली चीज़ है. अरे, ये तो खुद-ब-खुद आते हैं बेटियों में अपने माता-पिता को देखकर. इसलिए कहता हूं बात-बात पर चिल्लाना छोड़ दे, कहीं ये संस्कार... अप्पा कुछ कहते इसके पहले ही शेवंती के साथ रसोई में काम कर रही बहु भी मुंह में आंचल डाल मुस्कुरा दी.

'ये बात अप्पा, आप मेरे सबसे अच्छे अप्पा हो.' कहते हुए

एम. ए. अर्थशास्त्र, एम. ए. हिंदी, एम. एड., पीएच. डी. हिंदी.
महाविद्यालय में प्राचार्य.
पिछले ११ वर्षों से आकाशवाणी एवं दूरदर्शन पर कहानी तथा कविताओं का प्रसारण,
राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं में रचनाएं प्रकाशित.
शिक्षा विषयक कई संग्रह, चार एकल कविता संग्रह, एवं बाल साहित्य के कुछ संग्रह प्रकाशित.
उपन्यास : 'मंगलमुखी'– (किन्नर पर उपन्यास), कहानी-संग्रहः सिंदूर का सुख. सांझी बेटियां, नीला मलहम, भारत के ब्रह्मास्त्र, इसके अलावा कुछ लघुकथा संग्रह व साक्षात्कार संग्रह प्रकाशित.
कुछ समीक्षा की पुस्तकें.
सम्मान : अनेक राज्य स्तरीय, राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय सम्मान प्राप्त.१४ राज्यों से उत्कृष्ट लेखन हेतु सम्मानित.

शेवंती अप्पा से लिपट गयी.

'बिगाड़ो, बिगाड़ो मुझे क्या !'

'नहीं बिगड़ेगी... भरोसा कर अपनी बेटी पर... और हां, इस तरह चिल्लाया मत कर उस पर, मेरा दिल दुखता है.'

'वो मेरी भी बेटी है जी, जन्म दिया है मैंने उसको. जानता हूं सकू बाई. बड़ी मन्नत की है मेरी बेटी. तीन बेटों के बाद मां तुलजा भवानी की पैदल यात्रा की मनौती मांगी थी हमने. हमारी बेटी साक्षात मां भवानी का आशीर्वाद है, उसके संस्कारों की चिंता तो हमें करनी ही नहीं है.' नासिक जिले के रहने वाले सदाशिव राव खेतिहर किसान हैं. अच्छी-खासी खेती है. भरा-पूरा घर, तीन बेटे के बाद शेवंती का आना घर की ख़ुशियों को मानो दूना कर गया. इसलिए अपने अप्पा की बहुत लाडली थी शेवंती. गांव के स्कूल में ग्यारहवीं कक्षा की विद्यार्थी रही शेवंती की मां को उसके गृहस्थ जीवन की फिक्र सताने लगी. जो अमूमन हर मां की चिंता होती है. सदाशिव राव ने अपने ही पास के गांव के ताल्लुकेदार मल्हार राव के लड़के उमेश मोहंती को शेवंती के वर के रूप में चुना. उमेश फ़ौज में सैनिक है. ...अच्छा समृद्ध घर, खुशहाल परिवार, उस पर पत्नी को भरपूर प्यार देने वाला उमेश. बेटी की गृहस्थी की गाड़ी को सुखपूर्वक चलते देख सबसे अधिक ख़ुश थे शेवंती के अप्पा. पास में ही बेटी का ससुराल खोजा ताकि उसकी खोज-ख़बर मिलती रहे.

एक फ़ौजी के जीवन का अपना सिस्टम होता है. शादी के लिए २० दिन की छुट्टी स्वीकृत हुई. वह बीस दिन ऐसे फुर्र हुए जैसे नूरजहां के हाथ से सफ़ेद कबूतर. उमेश वापस अपनी नौकरी पर चला गया, फिर जल्द ही आने का वादा करके. किंतु सीमा पर चल रहे हालातों ने उमेश को इजाज़त नहीं दी कि शेवंती के साथ और वक़्त गुज़ारे. इसी बीच शेवंती गर्भवती हुई, दोनों परिवारों में उसका बहुत लाड़-चाव हुआ. डोहाड जेवन, ओटी... सारे रीति रिवाज हुए मगर इस उत्सव का आनंद उमेश महज फ़ोन से ही ले पाया. जब कभी शेवंती कहती, 'आहो! आपकी बहुत याद आती है. कब आओगे?'

'शेवंती जितनी जल्दी होगा आऊंगा. मैं खुद चाहता हूं अपने बच्चे के जन्म पर वहां उपस्थित रहूं. उसकी आंख खुले तो वह हम दोनों को एक साथ देखे. मैं उसकी पहली आवाज़ सुनूं.'

'तो फिर आ जाइए न, देखिए अब तो नौ माह की गोद भी भर गयी. डॉक्टर कहते हैं किसी भी वक़्त बच्चा हो सकता है.'

'मैंने बॉस को अर्जी दी हुई है शेवंती, जैसे ही छुट्टी पास होती है मैं उड़ कर तुम्हारे पास पहुंचूंगा. प्रथम प्रसव मैके में होता है इस नियम के तहत अप्पा अपनी लाडली को अपने घर ले आये थे. अभी तीन दिन ही बीते थे कि रात साढ़े बारह बजे सकू बाई ने पति देव को उठाया, 'सुनिए! हमें शेवंती को लेकर अस्पताल जाना होगा. उसको दर्द शुरू हो गया.' अप्पा ने झट अपनी लकड़ी की पेटी से पैसे निकाले, पड़ोस में रहने वाली अक्का को साथ लिया. हमें, अस्पताल चलना है. शेवंती को अस्पताल में एडमिट कर दिया गया. डॉक्टर और नर्स कमरे में थी. बाहर अप्पा

बेचैनी से चहलक़दमी कर रहे थे. कभी लेबर रूम तक जाते फिर खिड़की के पास खड़े हो उनके हाथ मानो प्रार्थना की मुद्रा में जुड़ जाते. पत्नी उनकी बेचैनी को समझ रही थी बोली, 'आहो! आपके इस तरह घूमने से भला क्या बच्चा जल्दी होगा? ...आप एक जगह बैठ क्यों नहीं जाते.' अप्पा के आंखों के आगे शेवंती के ब्याह से लेकर आज तक के सारे चित्र एक-एक कर आ रहे थे. अपने जिगर के टुकड़े को उमेश को सौंप दिया. सैनिक है दामाद सो उसके अपने कर्तव्य हैं मगर अप्पा ने बेटी के प्रति अपने कर्तव्य बख़ूबी निभाए. आज उनकी वही छुटकी सी शेवंती मां बनने जा रही है. उसके मां बनते ही उनका भी तो प्रमोशन हो जाना है. उनकी सोच की दिशाएं यहां-वहां विचार ही रही थी कि पहले नर्स कमरे से बाहर आयी, पीछे-पीछे डॉक्टर भी. वे झट दौड़ पड़े.

'काय झाय हो डॉक्टर साहिबा, माझी लेकरु कस है व्हय. (क्या हुआ डॉक्टर साहब, मेरी बेटी कैसी है?)'

तभी अक्का भी दौड़ी-दौड़ी आयी, 'डॉक्टर मुलगा कि मुलगी? (डॉक्टर बेटा है या बेटी?'

'आ हो मुलगा झालय तुमची पोर ला. आणि दोघ ई स्वस्थ आहे.' (अरे! लड़का हुआ है आपकी बेटी को और दोनों ही स्वस्थ हैं) डॉक्टर ने खुश होते हुए कहा.

'खूप खूप आभार डॉक्टर साहिबा, खूप-खूप आभार.' अप्पा हाथ जोड़कर विनम्र भाव से बोले.

'अमी बगु शकतो का लेकरु ला?' (हम देख सकते हैं क्या बच्चे को)

'अभी नहीं, थोड़ी देर में बच्चे और उसकी मां को लेबर रूम से दूसरे कमरे में शिफ़्ट किया जाएगा तब.'

अप्पा ने पहला फ़ोन दामाद को लगाया, 'आ हो! तुमचा प्रमोशन झाला, तुम्हीं सुद्धा अप्पा झालय हो, लेकरु आलय.' (सुनो, तुम्हारा प्रमोशन हुआ है, तुम भी पापा बन गये हो, बेटा हुआ है.)

'सच, उमेश ने खुश होते हुए कहा. मैं अभी अपनी छुट्टी के बारे में बात करता हूं, जितनी जल्दी हो निकलता हूं.' सदाशिव की खुशी न सम्हलती थी.

'समधी जी बधाई हो आपकी मूंछ पकड़ने वाले आ गया है.'

'सच... अब आप तो मूंछ रखते नहीं, फिर भी आपको भी बधाई, हम अभी निकलते हैं.' तब तक शेवंती को कमरे में शिफ्ट कर दिया था. सबसे पहले अप्पा ने बच्चे को गोद में लिया और बच्चों की तरह उससे तोतली जुबान में बोलने लगे मानो बच्चा अभी उनसे बोल पड़ेगा.

'अरे बच्चों तुम मामा बन गये. शेवंती को बेटा हुआ है. उन्होंने अपने तीनो बेटों को फ़ोन पर खुशख़बरी सुनायी.'

'आई! इसके पापा को फ़ोन किया ?' शेवंती ने मां से पूछा.

'इतनी देर, तेरे अप्पा को तसल्ली है क्या, सबको फ़ोन कर दिया उन्होंने. दामाद जी बोले हैं जैसे ही छुट्टी मिलती है वे निकलते हैं और तेरे सास-ससुर भी आते ही होंगे.'

'अरे! समधी आने वाले हैं और मैं मिठाई अब तक नहीं लाया च्च.... मैं भी न.' अप्पा को समझ नहीं आ रहा था क्या करें क्या न करें. वे झट बाज़ार की तरफ़ निकल गये. लगभग आधा घंटे बाद वे बाज़ार से लौटे तो उनके दोनों हाथों में मिठाई के डिब्बे थे. एक थैली में बच्चे के लिए खिलौने भी. किंतु अस्पताल के दरवाज़े पर तीनों बेटे मुंह लटकाए खड़े थे.

'अरे बच्चों, तुम मामा बन गये हो, ऐसे मुंह लटकाए क्यों खड़े हो. देखा शेवंती के बच्चे को?'

'अप्पा बहुत बुरी ख़बर है,' बेटा बोला.

'बहुत बुरी ख़बर...!'

'जीजू, अपनी शेवंती के पति को गोली लगने से वे शहीद हो गये.' अप्पा को लगा मानो किसी ने उनके कान में उबलता हुआ तेल डाल दिया हो.

'कौन बोला रे तुमको ये फालतू बात.'

'अप्पा! शेवंती के ससुराल से ही फ़ोन आया है. आपसे खुशख़बरी सुनकर वे यहां आने की तैयारी कर ही रहे थे कि सेना से फ़ोन आया. अप्पा वहां बहुत हड़कंप मचा है.' अप्पा के हाथों से मिठाई के पैकेट खुलकर सड़क पर फैल गये. खिलौने बेजान से नीचे पड़े थे. इतनी मनहूस ख़बर सुन अप्पा भी तो निर्जीव ही हो गये थे. उनकी आंखों के आगे अंधेरा छा गया. वे चक्कर खाकर गिरने ही वाले थे कि बेटों ने सम्हाल लिया.

'हे देवा! ये मेरे किस कर्म का फल दिया आपने? ... ऐसे कैसे... सुबह ७ बजे ही तो मेरी उनसे बात हुई थी.'

'अप्पा सारे सैनिक सुबह-सुबह मैदान में परेड कर रहे थे कि दुश्मनों ने वहां अटैक कर दिया. २०-२५ सैनिक मारे गये.'

'क्या शेवंती को पता है,' अप्पा ने रोते हुए पूछा.

'नहीं अप्पा, हम तो अंदर गये ही नहीं, हिम्मत ही नहीं हो रही. आपका ही इंतज़ार करते खड़े हैं.'

'बेटा ! सबसे पहले किसी भी तरह शेवंती के कमरे के टीवी का तार निकाल दो. उसे कोई भी मोबाइल मत देना... वरना उसके दिमाग़ पर असर हो जाएगा. अभी वो बहुत कमज़ोर है. कुछ ही घंटे तो हुए हैं मेरी बेटी को प्रसव पीड़ा से गुज़रे हुए और ईश्वर ने यह... हे ईश्वर कैसा न्याय ... ये मेरी समझ में नहीं आया. साल भर में विधवा हो गयी मेरी बेटी.' अप्पा अपने हाथों ही अपने सिर पर थप्पड़ मार जा रहे थे. तभी अक्का उन्हें देख बाहर आ गयी.

'आ गये भैया, ले आये मिठाई?'

'मेरी बेटी को कुछ मत बताना अक्का...' कहते हुए अप्पा अक्का के पैरों पर गिर पड़े.

'अरे! मगर हुआ क्या, क्या हो रहा है ये सब ... क्या न बताऊं शेवंती को... और बच्चों ये मिठाई इस तरह मिट्टी में...!'

'अक्का! हमारा दामाद, शेवंती का पति शहीद हो गया.'

'हाय राम... यह कैसी ख़बर सुना रहे हो भाई.'

'मैं भी यही कहता हूं अक्का, यह ख़बर सुनने से पहले मुझको मौत क्यों नहीं आ गयी.' अप्पा दोनों हाथों से छाती पीटने लगे. बेटों ने बड़ी मुश्किल से उन्हें संभाला.

'अप्पा आप ऐसे करेंगे तो शेवंती को हम कैसे संभालेंगे.' थोड़ी देर पहले जहां उत्सव का माहौल था अब मरघट-सी मायूसी छायी थी. जैसे-तैसे अप्पा अपने तीनों बेटों के साथ अंदर कमरे में पहुंचे तो उनकी आंखें शेवंती का सामना नहीं कर पा रही थीं. जानते जो थे उनकी बेटी उनका चेहरा अक्षरश: पढ़ लेती है. जैसे-तैसे बेटे ने शेवंती की नज़र बचा टीवी का कनेक्शन बंद कर दिया. ज़िंदगी में आये तूफ़ान से अनजान शेवंती अप्पा को देखते ही बोली, 'अप्पा! आप तो मिठाई लेने गये थे न, कहां है मिठाई?'

'अरे पोरी! क्या कहूं पता नहीं आज क्या हुआ है इन दुकानदारों को कोई दुकान ही खुली नहीं मिली. पता नहीं क्यों?' अप्पा दरवाज़े की ओर देखते हुए बोले.

'अच्छा, इनका फ़ोन आया था, क्या बोले?'

'जल्दी आएंगे बोले.' कहते हुए अप्पा तेज़ी से बाहर निकल गये और खिड़की की चौखट से अपना सिर पटक रोने लगे.

'अरे! ये अप्पा एकदम बाहर क्यों चले गये?'

'वो कोई दवाई रह गयी थी लाने को, वही लाने की याद आ गयी होगी.'

'ला तो भाई मुझे दे फ़ोन मैं बात करती हूं.'

'इस कमरे में नेटवर्क नहीं आता ताई.' घर से भाभी ने सभी के लिए खाना भेजा, मगर सिवाय शेवंती के किसी ने खाना नहीं खाया. भोली शेवंती जीवन में मिली इस ख़ुशी का जश्न मनाने में मसरूफ़ थी, उसकी नज़र भविष्य की इस दुर्घटना को पढ़ ही नहीं पायी. शाम को फिर भाई खाना लेकर आया और अप्पा को एक तरफ़ ले जाकर बोला, 'अप्पा आज से ठीक पांचवे दिन सेना के लोग जीजू का पार्थिव शरीर लेकर आने वाले हैं. तब तक दीदी को बताना क्या उचित होगा?'

'नहीं रे पोर, बिल्कुल नहीं. नाजों में पली मेरी बेटी मर जाएगी. हमें उसे संभालना होगा.' अप्पा बेटी को एक पल अकेला नहीं छोड़ते. ख़ुद में हिम्मत नहीं थी बेटी का सामना करने की सो थोड़ी-थोड़ी देर में जाकर बेटी को देख आते. वे चार दिन चार युग की तरह बीते उस परिवार पर. बेटी से भले ही घटना छिपा ली मगर उस घटना ने भीतर ही भीतर कितना तोड़ा है उन्हें वे ही जानते हैं. पांचवा दिन उगते ही जीप अस्पताल के दरवाज़े पर आकर खड़ी थी. शेवंती को पेट भर नाश्ता करा दिया. जानते जो थे अब बच्ची जाने कब सुख से निवाले खा पाएगी. अप्पा बोले, 'चल पोर तुझे तेरे घर जाना है.'

'इतनी जल्दी ! अप्पा क्या इतनी जल्दी भेज दोगे मुझे अपने घर.'

'पोर! तेरे ससुराल वालों का कहना है कि बच्चे का पांचवा उनके घर ही होगा. हम इस रीत को पूरा करके शाम

को वापस यहां आ जाएंगे.'

'अच्छा ! ऐसा कोई रिवाज है किसी ने मुझे बताया नहीं!' जीप में बैठते हुए शेवंती बोली. मां ने उसकी बात को अनसुना व अनदेखा करते हुए कहा, 'पोरी! बच्चे को पेटभर दूध पिला दे पता नहीं वहां समय मिले न मिले.' आधे घंटे में जीप शेवंती के गांव तक पहुंच गयी थी. अप्पा ने बेटी का ध्यान करते हुए जीप को कपड़े से पैक कर दिया था.

'अप्पा ये आज गांव में इतनी चहल–पहल क्यों है? और ये इतनी बड़ी-बड़ी गाड़ियां. ...सेना की गाड़ी भी खड़ी है....ये लाल बत्ती की गाड़ी भी है लगता है बड़े-बड़े अफ़सर आये हैं आज गांव में. कुछ तो ख़ास है.' अप्पा कुछ नहीं बोले सीधे गाड़ी चलाते रहे.

'अरे वहां कहां अप्पा, उधर तो स्कूल है, सीधे घर ले चलो न गाड़ी.' अप्पा फिर भी ख़ामोश थे. जैसे-जैसे गाड़ी स्कूल मैदान के पास पहुंच रही थी एक स्वर ऊंचा होता जा रहा था. गाड़ी भले ही तीनों ओर से चादर से पैक की थी मगर सामने कांच से दिखाई दे रहा था. उमेश मोहंती अमर रहें. खंभों, दीवारों पर लगे. फ्लैग्स, बैनर दिखाई देने लगे जिन पर उमेश की फ़ोटो थी और बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था — 'शहीद उमेश मोहंती.' पल भर में वह सैनिक पत्नी सब कुछ समझ गयी. एक-एक बात उसके स्मृति पटल पर आने लगी. वो अचानक अस्पताल के टीवी का ख़राब हो जाना, मोबाइल का नेटवर्क न मिलना, अप्पा का मिठाई लेने जाना और खाली हाथ लौट आना, मुझसे आंखें चुराना, बच्चे के पांचवी के नाम पर मुझे यहां लाना... जीप से उतरते ही सामने लकड़ी की पेटी में तिरंगे में लिपटे उमेश का पार्थिव शरीर रखा था. उसके एक ओर उमेश के माता-पिता और परिजन खड़े थे. शेवंती यह देखते ही चीख़ पड़ी. दौड़कर लकड़ी की पेटी पर गिर पड़ी. वह एकटक उमेश को देखे जा रही थी कुछ बुदबुदा रही थी, 'आप तो बेटे के जन्म पर उपस्थित रहने वाले थे न, तुम तो कहते थे मेरा बेटा मेरे सामने, मेरी गोदी में आंखें खोलेगा... फिर एक सैनिक होकर आप अपना वचन अधूरा छोड़कर क्यों चले गये? हमारा बच्चा मुझसे पूछेगा, आई मेरे बाबा कैसे दिखते थे? तो मैं उसे क्या बताऊंगी. क्या बताऊंगी बाबा की गोदी का सुख क्या होता है?' इसी बड़बड़ाहट के साथ उस पर बेहोशी छाने लगी. सभी उसे होश में लाने का प्रयास कर रहे थे क्योंकि अभी अंतिम संस्कार होना बाक़ी है. बेटी की ऐसी हालत देख अप्पा की छाती में सांसें न समाती थीं.

वक़्त भला कब किसके लिए रुका है. आज तो भारत मां की आंखों से भी ख़ून के आंसू बह रहे थे जब उमेश का पार्थिव शरीर चिता पर रख गया. उसके पिता के हाथ में चिता की लकड़ी थी तो दूसरे हाथ में उमेश का नवजात. चिता को नवजात के हाथों अग्नि देने का संस्कार पूर्ण हुआ. वाह, शिशु अभी इस धरती पर आया ही था कि विधाता ने उसे जन्म और मृत्यु के फंदे में जकड़ लिया. वह नहीं जानता जन्म का उत्सव और मृत्यु का शोक. एक शहीद की चिता धूधू कर जल रही थी. दो मांओं की कोख़ (जन्म देने वाली मां, भारत मां) उजड़ गयी. एक सुहागन का सिंदूर शत्रुओं की भेंट चढ़ गया. उधर टेंट और माइक लगी सभा में अफ़सर द्वारा उमेश की बहादुरी के किस्से सुनाये जा रहे थे. शोक संदेश के साथ घोषणा की जा रही थी, 'सेना द्वारा शहीद उमेश मोहंती की पत्नी को समस्त सुविधाओं के साथ स्कूल में नौकरी दी जाएगी.' अभी घोषणा पूरी ही हुई थी कि अचानक शेवंती उठी, उसने ससुर जी की गोदी से बच्चे को लिया. पांच दिन की वह प्रसूता लड़खड़ाती हुई माइक पर जा खड़ी हुई. अप्पा हतप्रभ थे, अचानक शेवंती को क्या हुआ, जो वह माइक के सामने जा खड़ी हुई, 'इस बच्चे को अभी कुछ दिन अपने उदर पूर्ति के लिए मेरी ज़रूरत है. फिर मैं अपने पति के अधूरे सपनों को पूरा करने सेना में भर्ती होना चाहती हूं. जो दुश्मन मेरे पति से बच गये, उनसे अब मेरा सामना होगा.' पूरी सभा में कुछ देर सन्नाटा रहा फिर तालियां गूंज उठीं.

दूर खड़े अप्पा का हाथ अपने सिर की ओर गया, एक पिता अपनी बेटी के सम्मान में सैल्यूट की मुद्रा में खड़े थे.

३० सीनियर, एम् आई जी,
अप्सरा काम्प्लेक्स, A - सेक्टर,
इंद्रपुरी भेल क्षेत्र, भोपाल - ४६२०२२.
मो. : ९९२६४८१८७८

सुशांत सुप्रिय की कविताएं

कल रात सपने में

कल रात मेरे सपने में
गांधारी ने इंकार कर दिया
आंखों पर पट्टी बांधने से,

एकलव्य ने नहीं काटा
अपना अंगूठा द्रोण के लिए,

सीता ने मना कर दिया
अग्नि-परीक्षा देने से,

द्रौपदी ने नहीं लगने दिया
स्वयं को जुए में दांव पर,
पुरु ने नहीं दी
ययाति को अपनी युवावस्था,

कल रात
इतिहास और 'मिथिहास' की
कई ग़लतियां सुधरीं
मेरे सपने में.

हक़ीक़त

हथेली पर खिंची
टूटी जीवन-रेखा से
क्या डरते हो,

साप्ताहिक भविष्य-फल में की गयी
अनिष्ट की भविष्यवाणियों से
क्या डरते हो,
कुंडली में आ बैठे
शनि की साढ़े-साती से
क्या डरते हो,

यदि डरना है तो
अपने 'मैं' से डरो,
अपने बेलगाम शब्दों से डरो,
अपने मन के कोढ़ से डरो,
अपने भीतर हो गयी
हर छोटी-सी मौत से डरो,
क्योंकि उंगलियों में
नीलम और मून-स्टोन की
अंगूठियां पहन कर,
तुम इनसे नहीं बच पाओगे.

समस्या

बिना किसी पूर्व-सूचना के
एक दिन आ गया प्रलय,

भौंचक्के रह गये सारे भविष्यवेत्ता,
सन्न रह गया समूचा मौसम-विभाग,
हहराता समुद्र लील गया सारा आकाश,
सूर्य डूब गया उसमें
जिसकी फूली हुई लाश
बहती मिली दूर कहीं
कुछ समय बाद,
चांद और सितारे
न जाने कहां बह गये,
नामो-निशान तक नहीं मिला उनका,

वह तो मैं ही था कि
बच गया किसी तरह
तुम्हारे प्रेम-पत्रों की नाव बना कर,
वह तो तुम ही थी कि
बच गयी किसी तरह
मेरे प्रेम-पत्रों के चप्पू चला कर,

समस्या यह है कि अब हम
अर्घ्य किसे देंगे प्रतिदिन?

नियति

मेरे भीतर
एक अंश
रावण है,
एक अंश राम,
एक अंश
दुर्योधन है,
एक अंश
युधिष्ठिर,

जी रहा हूं
मैं निरंतर
अपने ही भीतर
अपने हिस्से की
रामायण,
अपने हिस्से का
महाभारत.

A-५००१, गौड़ ग्रीन सिटी, वैभव खंड, इंदिरापुरम्, गाज़ियाबाद– २०१०१४ (उ. प्र.)
मो : ८५१२०७००८६. ई-मेल : sushant1968@gmail.com

आखिर क्यों?

| सरोजिनी नौटियाल |

पिताजी मां से दीदी के लिए जो जो चीज़ें भेजी जानी हैं, उसके विषय में बात कर रहे हैं. मां अभी रसोई निबटा कर, कल सुबह की भी कुछ तैयारी वग़ैरह करके पूजा वाले कमरे में आयी थी. असल में मां का सब सज-बज वहीं था. पिताजी की भी सारी ख़ास सामग्री-आलमारी, बक्से वहीं जमे हैं. लेकिन पिताजी रहते हैं इससे लगे दूसरे कमरे में. पूजा का कमरा एक तरह से मां का ही हो गया. वहां का सारा हिसाब मां की मर्जी का है. वहां कोई जूते-चप्पल पहन कर नहीं जा सकता. कोई भक् से नहीं जा सकता. वहां पर खाना भी एक तरह से निषिद्ध है. दरअसल पूजा की तो बस एक आलमारी है, लेकिन कमरे का नाम पूजा का कमरा है. मां का कमरा भी कह देते हैं. पिताजी को जब केवल मां से बात करनी होती तो चप्पल उतार कर इसी कमरे में आते हैं. इस समय भी जब तक चौके से खटर-पटर की आवाज़ आ रही थी, पिताजी अपने कमरे में अख़बार के छूटे टुकड़ों को पढ़ रहे थे या फिर देख रहे थे. इस समय पूजा के कमरे में मां-पिताजी का सलाह-मशविरा चल रहा है. जीजा जी ड्राइंगरूम में आराम फरमा रहे हैं. मुकेश ऊपर कमरे में पढ़ रहा है. इंज़ीनियरिंग की तैयारी कर रहा है. अगले महीने परीक्षा है. दीदी पिछले दो महीने से मेरे साथ इसी कमरे में हैं. इस समय संजु के साथ लेटी हुई हैं; हाथ में पुराना धर्मयुग है. लेकिन उनका ध्यान कहीं और है क्योंकि बड़ी देर से एक ही पन्ने पर नज़रें गड़ाए हैं. पलंग के दूसरे छोर पर मैं थोड़ा नोट्स उलट-पुलट रही हूं. अंग्रेज़ी ऑनर्स ले तो लिया, अब लग रहा है बड़ा गफ्फा धर लिया मुंह में, चबाया नहीं जा रहा. रॉबर्ट ब्राउनिंग के ऑप्टिमिज्म से अपने हौसले बुलंद करने की कवायद चल रही है. पर, फिलहाल मेरा चित्त कहीं और अटका हुआ है.

जाने क्यों दीदी जब भी आती है, मेरी आंखों में अक्षर ठिठकने

जन्म : १ अक्तूबर, १९५६, देहरादून
शिक्षा : बी. ए. ऑनर्स (हिंदी साहित्य), एम. ए. (अर्थशास्त्र), बी. एड.
प्रधानाचार्या (अ. प्रा.) उत्तराखंड माध्यमिक शिक्षा.
: प्रकाशन :
देश की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में कहानी, लेख, कविता, पुस्तक-समीक्षा, भेंटवार्ता आदि प्रकाशित.
सुप्रसिद्ध प्रवासी लेखिका अर्चना पैन्यूली की प्रमुख कृतियों का संपादन.
आकाशवाणी नजीबाबाद से कहानी और लेखों का प्रसारण.

लगते हैं. मैं काम से इतना नहीं थकती, जितना यूं बैठने से थक जाती हूं. क़िताबें खुली ज़रूर रहती हैं मगर कुछ हासिल न होने की कसक होने लगती है. मुकेश भी ख़ामोश हो जाता है, ज़्यादा पढ़ना शुरू कर देता है. दीदी को आए दो महीने से ऊपर हो गये पता नहीं उनकी क्या मर्जी है. जीजा जी मुरादाबाद से आज सुबह पहुंच गये थे. दिन में मां, दीदी के बीच कुछ घमासान हुआ था. उस समय पिताजी बाहर के बरामदे में जीजा जी से उनके प्रमोशन में आयी रुकावट के बारे में बात कर रहे थे. पशुपालन विभाग में निरीक्षक की प्रमोशन सूची निकली थी, जीजा जी का नाम नहीं है, जबकि उनके साथ वालों का है. जीजा जी परेशान हैं. पिताजी प्रत्यावेदनकी सलाह दे रहे थे. मैं संजु को रसोई के आगे के बरामदे में चौकी में बिठा कर नहला रही थी. रसोई में मां और दीदी के बीच कुछ चल रहा था. दीदी की तुलना में मां की आवाज़ दबी हुई थी. दीदी थोड़ा नाराज़ लग रही थी. वैसे कुछ कह नहीं सकते,दीदी के चेहरे का यह स्थायी भाव है. स्वर में उलाहना-शिकायत, कभी-कभी सामने वाले के अपमान तक चली जाती है.कह रही थी, 'आप लोगों ने शादी में जेवर हल्के दिये, मेरी सास आज तक जिक्र कर-कर के ताना मारती है... बक्सा भी ढंग का नहीं दिया, पहुंचते-पहुंचते एक तरफ़ से बुरी तरह पिचक गया था, उसको लेकर भी क्या-क्या नहीं कहा ससुराल वालों ने.'

'दो वीआईपी के सूटकेस दिये थे,वो नहीं देखे तेरे ससुराल वालों ने. तेरे पिताजी ने एक्स्प्रेस गाड़ी का क़िराया दिया था, समधी जी पैसेंजर पर सवार हो गये, पूरी बारात लेकर. सीट भी पूरी नहीं, दो जने बक्से पर जमे रहे पूरे सफ़र में, पिचकना नहीं था बक्से ने, मुकेश सब बता रहा था.' मां सब्ज़ी छौंक रही थी और मसाले के डिब्बों को बार-बार खोलती-बंद करती, जैसे अपनी रखी चीज़ ही भूल गयी हों.

'सुनना तो मुझे पड़ा न. अच्छा, इस बार बेकरी के रस-बिस्कुट रहने देना, इस पर भी हंसते हैं वे लोग.'

'वो तो सब कहते हैं, देहरादून की बेकरी बहुत उम्दा है, दिल्ली भी नहीं मिलता ऐसा सामान, इस करके तेरे पिताजी बड़े शौक से एलोरा से लाये थे. कोई बात नहीं, मिठाई-फल रख देंगे.'

'बासमती के दो बैग रखना...एक कम लगता है,' कहते हुए दीदी ने टोकरी से एक सेव उठाया और रसोई से निकल गयी.

दीदी के आने से पूरे घर में एक अजीब दहशत-सी पसर जाती है. हर बार लगता है कि दीदी इस बार ससुराल नहीं जाएगी. जीजा जी अपनी मां के कहने में हैं. दीदी अकेली पड़ जाती है. संजु जब पैदा हुआ तो मां को लगा पहलौटी में लड़का हो गया,अब ससुराल वालों का मिजाज बदल जाएगा,मगर ऐसा कुछ हुआ नहीं. बल्कि जिस ढंग से संजु की परवरिश हो रही है, उससे तो यह लग रहा है कि अब वह दिन दूर नहीं जब दीदी की शिकायत-सूची में संजु का नाम भी शामिल हो जाएगा. ढाई साल का संजु अपनी मां मुदिता का नाम लेकर जब बोला, 'दीता, चल मेरे कपरे धो, पली रहती है,' तो हम सब खिलखिला गये, सिवाय मां के.

मां को इसमें ख़तरे की घंटी सुनाई दी. उनको लगा कि दीदी और अकेली होने वाली है. उसकी व्यथा-कथा में

एक पात्र और जुड़ने वाला है.

दीदी अपने को एक चक्रव्यूह में फंसा पाती है. मां-पिताजी अंदर घुस नहीं पाते. दरअसल सभी अपने-अपने चक्रव्यूह में फंसे हुए हैं. कभी-कभी ऐसा लगता है कि दीदी पिंजरे में बंद है और जो पिंजरा खोल सकते हैं, वे भी पिंजरे में बंद हैं. अपने-अपने पिंजरे में क़ैद वे एक-दूसरे को देखकर बस फड़फड़ा रहे हैं. जीजा जी के आने से पहले पिताजी का रुख कुछ और था. पिताजी दीदी को बी.टी.सी. करने की सलाह दे रहे थे. दीदी ने बहुत सारी बातें कहीं. पिताजी का ग़ुस्सा भी दिखा बीच-बीच में. 'देखा ही क्या है उन लोगों ने, पंद्रहवीं सदी में रह रहे हैं. ग्रेजुएट बहू को समझने की औकात नहीं है उनकी,' पिताजी ऐसा ही कुछ बोलते और दीदी अपने अंतहीन दुखड़ों की पोटली खोलती रहती. पोटली से निकलते ही उन दुखड़ों का धुंआ घर की हवा को बोझिल कर देता. धुंए की सबसे काली लकीर पिताजी को घेर लेती. वे आत्मग्लानि में डूबने लगते. अभी तो नौकरी में हैं बुढ़ापा एकदम निकट नहीं है. वे पिंजरा तोड़ने का जज्बा दिखाते हैं. इसके लिए वे जिस हथियार को दीदी को पकड़वाना चाहते हैं, दीदी उसको छूना भी नहीं चाहती.

मुझे पता था कि दीदी अपने प्रमाण-पत्रों की कोई सुध नहीं लेगी जबकि उनके सारे सटिफ़िकेट यहीं धरे हैं. वह बी.टी.सी. के बाबत कोई पूछताछ नहीं करेगी. ऐसा पिछले पांच साल में पहले भी दो-एक बार हो चुका है. एक बार तो मैं फ़ॉर्म भी ले आयी थी. एक पासपोर्ट साइज़ की फ़ोटो भी ढूंढ़-ढांढ़ कर दीदी को थमा दी थी. फ़ोटो को देखकर तो दीदी कुछ देर के लिए कहीं खो गयी थी,' कितनी सुंदर लग रही हूं मैं इसमें, सब मुझे आशा पारिख कहते थे.' गोदी में चढ़ा संजु फ़ोटो लेने के लिए दीदी के हाथ पर झपट्टा मार रहा था. 'देख तेरी मम्मी कितनी ख़ूबसूरत थी,' कहते हुए दीदी ने फ़ोटो संजु को पकड़ा दी. इससे पहले कि संजु फ़ोटो का कुछ करता, मैंने उसके हाथ से फ़ोटो लपक ली. 'दीदी, जब आप फ़्रॉर्म भर लेंगी, तब मैं फ़ोटो लगा दूंगी,' कह कर फ़ोटो मैंने अपनी मेज़ की दराज में डाल दी. फ़ोटो की नौबत ही नहीं आयी. दो दिन बाद चाय के कप के गोल-गोल निशान लगा फ़ॉर्म मुझे मेज़ के नीचे पड़ा मिला.

पिताजी जितना दीदी का हौसला बढ़ाने का प्रयास करते, उतना ही उनका ख़ुद का हौसला हिला हुआ होता. दीदी की जब भी चिट्ठी आती, पिताजी को पानी भी काला नज़र आने लगता. मां चुप हो जाती. मुकेश को मुरादाबाद दौड़ाया जाता, हम सब दम साधे इंतज़ार करते. पर,मुकेश हमेशा अकेले ही आया, दिल को दुखाने वाली कुछ बातों के साथ. मां उत्तेजित हो जाती,

'तूने क्या कहा?'

'कुछ नहीं,' कह कर मुकेश हट जाता.

सबको लग जाता कि जितना उसने बताया है, उससे अधिक छिपा गया. मगर, कोई नहीं कुरेदता. बाद-बाद में मुकेश ने मुरादाबाद जाने से मना करना शुरू कर दिया. उसकी पढ़ाई भी थी. दीदी की चिट्ठी आती, पिताजी फिर उसको देखने लग जाते, मगर कहते कुछ नहीं. धीरे-धीरे पिताजी ने भी बर्दाश्त करना सीख लिया. दीदी का पत्र नहीं,भूचाल आता था, 'कहते हैं, भिखारी की बेटी है, कुछ दिया नहीं...; रसोई में ताला लगा दिया, सास-ससुर कुंभ में इलाहाबाद गये हुए हैं...; संजु से मुझे अंट-शंट बुलवाते हैं...; उसने मेरे हाथ में कपड़े धोने की थपकी मार दी,हाथ में सूजन आ गयी; मेरे पास पैसे नहीं हैं... पिताजी मैं यहां नहीं रह सकती.'

एक बार पिताजी ने मुरादाबाद अपने मित्र बर्मन मौसा जी से कह कर दीदी को रुपये भिजवाने का इंतज़ाम किया. पिताजी की स्थिति बड़ी विचित्र थी. वे दीदी को सीधे भेज नहीं पा रहे थे, बर्मन मौसा जी को भी सब कुछ नहीं बताना चाह रहे थे. अब भला दाई से भी कहीं पेट छिपाया जा सकता है. लेकिन बर्मन मौसा जी ने ठीक वैसा ही किया, जैसा पिताजी चाह रहे थे. दीदी मौक़ा देखकर मौसा जी के घर आयीं और पिताजी के भेजे पैसे ले लिये. पिताजी ने दीदी को मुरादाबाद से देहरादून आने वाली गाड़ियों का ब्यौरा समझा कर चिट्ठी में भेज दिया था, इस टिप्पणी के साथ कि जब तक मैं हूं, पिता का घर तेरे लिए खुला है, लेकिन पिताजी ने यह नहीं बताया कि उसके बाद?

ख़ैर, पैसे और ब्यौरा मिलने के बाद दीदी एक दिन अचानक संजु को गोदी में लिये पिता की चौखट में खड़ी हो गयी. न चिट्ठी, न तार. हुलिया ऐसा जैसे कोई मर्डर करके

आयी हो. अकेली स्टेशन से तांगा करके पहुंच गयी.सामान भी कोई ख़ास नहीं. चप्पल टूथ ब्रश और कंघी के लिये तो मुकेश को उसी समय दौड़ाना पड़ा. दीदी जब भी आती, सबको सांप सूंघ जाता. उनकी अपेक्षाओं और शिकायतों की चादर सब पर लिपट जाती. मां रसोई से नहीं निकल पाती और मैं गुसलखाने से. संजु के दूध के इंतज़ाम से लेकर दूध की बोतलों की सफ़ाई-धुलाई तक सब मां के जिम्मे रहता. कपड़ों की धुलाई मैं देखती. पिताजी ग्राइप वाटर, मुगली घुट्टी और मुसम्मी के लिए सचेत रहते. पिताजी अपने हर काम को बड़ी मुस्तैदी से किया करते, लेकिन जब दीदी को चक्रव्यूह से निकालने की कोशिश करते तो ख़ुद ही फंस जाते. पहले तो वे यही नहीं जान पाते कि कौन अभिमन्यु है और कौन दुर्योधन. काम के बोझ से हलकान हुई जाती मां के मुख से निकलते 'इन लक्षणों से गृहस्थी थोड़े न चलती है, सारे दिन पड़ी रहती है...; बहुत लापरवाह है, कपड़े बारिश में भीगते रहे, मुदिता टीवी देखती रही...; बच्चे को क्या खाना है, क्या पीना, ये तो देख कम से कम,'जैसे वाक्य पिताजी को कन्फ़्यूज कर देते.

लेकिन मुकेश कन्फ़्यूज नहीं था. उसने ठोक कर कह दिया, वे लोग ठीक नहीं है; दीदी को वहां नहीं जाना चाहिए. दीदी को लेकर जब मुकेश कुछ कहता है तो सब चुप हो जाते. एक तरह से पूछने की हिम्मत चुक जाती है सबकी,जैसे अब कुछ पूछा तो ऊपर की पपड़ी निकल जाएगी और घाव नंगा हो जाएगा. अच्छा है, पपड़ी लगी रहे. लेकिन मुकेश ने एक बात और कही थी, 'अगर दीदी किसी बात में इन्ट्रेस्ट नहीं ले रही, तो यह चिंता की बात है. पहले तो ऐसी नहीं थी दीदी. उन्होंने तो मुझे पढ़ाया है छोटे में. एक बार तो डूबने से भी बचाया, मैं कैनाल, रायपुर कैनाल में गिर गया था. स्कूल से आते हुए रोज़ की तरह हम नहर के किनारे पटरी-पटरी चल रहे थे. गोल चक्कर से थोड़ा पहले बिल्कुल मेरे उठे पैर के नीचे एक हरे रंग का सांप सिर उठाए अचानक जाने कहां से प्रकट हो गया. मैं लड़खड़ा गया और औंधे मुंह नहर में गिर पड़ा. बरसात का मटियाला पानी मेरे मुंह में जाने लगा. तभी दीदी ने आव देखा, न ताव, एकदम छलांग लगा दी और मुझे कॉलर से पकड़ कर खींच लिया. अगर जरा भी देर हो जाती तो मैं गोल चक्कर में चला जाता.इतनी साहसी थीं दीदी और तुम सब कहते हो, दीदी में हिम्मत नहीं है.' मुकेश की इस बात ने मुझे भीतर तक भिगो दिया.मेरी मन की किताब के कुछ पन्ने फड़फड़ाने लगे और बचपन के कुछ दृश्य संस्मरण बन मेरी आँखों में उतर आते हैं.

दीदी मेरे कपड़े सिला करती थी. जो भी नया फ़ैशन चलता, दीदी हु-ब-हू वैसी मेरी फ्राक सिल देती. एक बार तो लेस लगाने के लिए मां ने पैसे देने से मना कर दिया कि ज़्यादा पैसे ख़र्च मत करो, फ्राक बिना लेस के भी सुंदर लग रही है. दीदी कहां मानने वाली थी. उनको तो बिल्कुल वैसी ही बनानी थी, जैसी उन्होंने किसी मैगज़ीन के एक विज्ञापन में देखी थी. बस तोड़ दी अपनी गुल्लक और ले आयी लेस. रात में लेस फ्राक में लग भी गयी. अगले दिन मुझे पहना कर अपनी सहेली के यहाँ ले गई. वहाँ से हम तीनों फोटो स्टूडियो गए थे. दीदी बुनाई भी अच्छी कर लेती थी. पिताजी ने एकबार दीदी के हाथ का बुना स्वेटर क्या पहन लिया, उसके बाद तो उन्हें कोई और स्वेटर पसंद ही नहीं आता था. समय की रेत में ऐसी कितनी ही आकृतियां आकार लेती रहतीं,पकड़ने की कोशिश करो तो सब गड्ड-मड्ड हो जातीं.

पिताजी ने मन बना लिया था कि इस बार मुदिता को ससुराल नहीं भेजेंगे. कुछ दिन पहले पूजा के कमरे में मां से कह रहे थे, 'मुदिता की मां, मुदिता अब यहीं रहेगी,उसे जाने के लिए मत कहना... बहुत हो गया.'

'विनेश आ रहे हैं लेने,इसी इतवार को. चिट्ठी आयी है न. क्या कहोगे उनसे?'

'साफ़-साफ़ कह दूंगा कि मुदिता परेशान है, आप लोगों के रवैये से. हमें भी चिंता रहती है... ऐसा कब तक चलेगा?'

'वे तो मुदिता की कमियाँ गिनाने लग जाएंगे. पिछले पांच साल से और हो क्या रहा है !'

'नहीं, इस बार आर-पार की बात होगी.'

'और, संजु?'

'बच्चे को ले जाना चाहें तो ले जा लें.'

'मुदिता मान जाएगी?'

'..........'

पिताजी कुछ बोल नहीं पाए. कमरे से निकलने लगे तो मां बोल पड़ी,'सुनो जी,मैदा ले आना, अजवायन भी, कल मठरी बना दूंगी. कुछ ही दिन तो बचे हैं.'

जीजाजी आज सुबह नौ बजे पहुँच गये थे. मुकेश स्टेशन लेने चला गया था. पिताजी ने अगले दो दिनों की छुट्टी ले ली है. पिताजी रेलवे में अधिकारी हैं, स्टेशन मास्टर के पद में यहीं देहरादून में तैनाती है. छुट्टी नहीं लेते. उनकी कई छुट्टियां तो ऐसे ही जाया हो जाती हैं. समय को लेकर बड़े चौकन्ने रहते हैं. लेकिन जाने क्यों दीदी की शादी के मामले में समय को नहीं देख पाए. दीदी अच्छा-ख़ासा पढ़ रही थी. पढ़ने में अच्छी समझी जाती थी, लगातार सैकिंड डिवीज़न. न जाने क्यों पिताजी को इतनी जल्दी मची. किसी ने बताया और पिताजी तैयार हो गये.आज पिताजी को वे पंद्रहवीं सदी के लगते हैं, उस समय क्यों नहीं लगे? उस समय तो पिताजी ने उनकी बहुत बड़ाई की. देहरादून में अपने खुले-फैले घर से मुरादाबाद की तंग गली में एलॉटमेंट के मकान में जाकर दीदी असहज हो उठी. दीदी तंग गली के मकान से नहीं, तंग सोच के लोगों से घबरा गयी. सिर से पल्लू न खिसके, किसी बाहर वाले से बात नहीं करनी, जोर से नहीं हंसना, और भी न जाने क्या-क्या. दीदी घुट गयी. दीदी ने आगे पढ़ना चाहा तो जीजाजी बोल पड़े, 'क्या करोगी एम.ए. करके, हमने कोई नौकरी तो करानी नहीं.'

दीदी कविता लिखती थी, बाद में डायरी लिखने लगी. एक पेज़ मैंने भी पढ़ा था,'मेरी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, मैं उपनिवेश हूं किसी का. मेरी इच्छा का कोई अर्थ नहीं. मुझे दो बार आगे पढ़ने से रोका गया. एक बार तब, जब मैंने पिताजी से कहा था, मैं अभी पढ़ना चाहती हूं. पिताजी शादी के कार्ड के नमूने देख रहे थे, पता नहीं मेरी बात ढंग से सुनी भी या यूं ही कह दिया,' हां,हां पढ़ लेना. शादी के बाद भी लड़कियां पढ़ती हैं.' मैंने डायरी बंद कर दी. वैसे भी चुपके से दीदी की डायरी पढ़ना मुझे चोरी लगी. बंद करते-करते जो आख़िरी लाइन मैंने पढ़ी, उसमें दीदी ने लिखा था, 'क्या मुकेश के लिए भी पिताजी ऐसा कह सकते हैं?'

दिमाग़ में दीदी के डायरी के पन्ने और सामने खुली इंगलिश पोएट्री की किताब में कवि शैली का यह उच्छवास, 'वी लुक बिफोर एंड आफ्टर एंड पाइन फ़ॉर व्हाट् इज नॉट,' आपस में ऐसे जुड़ गये कि दोनों मिल कर एक रंग हो गये. किताब बगल की मेज़ में धर दी,एक नजर दीदी और संजु पर डाली. दीदी का तो पता नहीं,हां, संजु गहरी नींद में था. सोये में उसकी बालसुलभ मासूमियत उसके चेहरे पर खिली हुई थी, बल्कि टपक रही थी. इससे पहले कि मुझे उसमें कुछ और दिखने लगे, मैंने टेबिल लैंप बंद कर दिया. नींद थोड़ी मुश्किल से आयी. नींद आयी तो सपने शुरू हो गये. अजीब दृश्यों वाले सपने किसी गहरी गुफा में धकेल रहे थे. सपने में दीदी पिताजी से लड़ रही थी. अचानक संजु के रोने से आंख खुल गयी. लगा संजु अकेला है. मैंने सिर उठा कर देखा, दीदी नहीं थी. मैंने संजु को धीरे-धीरे थपकी दे-दे कर सुला दिया. गनीमत है, उसने आंख नहीं खोली. मुझे फिर नींद नहीं आयी.

अगले दो दिन बहुत व्यस्त रहे. पिताजी कई बार बाजार गये, बासमती के लिए मुकेश को माजरीमाफी भेजा. वहां बासमती अच्छी मिलती है. दीदी ने एक-एक कर अपना सामान संभाला. अपनी काढ़ी हुई पहले की चादर भी रखी. पता नहीं क्यों मैंने दीदी का काढ़ा मेज़पोश छिपा दिया. काम के बीच मां की नसीहतें भी चलती रही, 'जुबान मत लड़ाना... वो भी क्या करें, उनका एक ही बेटा है.'

'मेरे क्या दो-तीन पति हैं, मेरा भी तो एक ही पति है,' दीदी ने मां की बात काटते हुए कहा.

'बस, इसी को जुबान लड़ाना कहते हैं, इसी पर कंट्रोल करना है,' मां प्यार से ही बोली. अब दीदी जाने वाली है, मां माहौल में किसी किस्म की तल्खी नहीं लाना चाहती, बाद में सालता है.

विदाई का मंच सज चुका था. मां ने दीदी को कपड़े समझा दिये. संजु को नयी रेडीमेड ड्रेस और पैरों में नये जूते पहना दिये गये. चावल, आचार, मिठाई-फल, मठरी - सब बांधकर सामान के साथ रख दिया. मुकेश जीजा जी को टिकट-सीट समझा रहा था. पिताजी दीदी को कुछ कह रहे थे. '...बेटी, घबराना नहीं, कुछ भी होता है तो तुरंत चिट्ठी लिख देना, मुरादाबाद दूर ही कितना है,'कहते हुए दीदी के हाथ में रुपयों की गड्डी-सी पकड़ायी.जाने मुझे ऐसा क्यूं लगा जैसे पिताजी जुर्माना भर रहे हों. दीदी के आंसू छलक

गये. आंसू,जैसे कह रहे थे, 'पिताजी, बहुत दूर है मुरादाबाद अलंघनीय.'.

दो तांगे दरवाजे पर खड़े थे. एक में दीदी-जीजा जी बैठे. मैंने संजु के सिर पर हाथ फेरा, पुचकारा और जीजा जी को थमा दिया. मां ने संजु के दूध के थर्मस, बोतल वग़ैरह का बैग और पूरे तामझाम सहित रास्ते की पूरी-सब्ज़ी का थैला दीदी को पकड़ा दिया. दीदी ने यंत्रचालित-सा पकड़ लिया. दूसरे तांगे में सामान सहित मुकेश बैठ गया. पिताजी ने एक बार फिर उसे प्लेटफॉर्म, बोगी नं. समझाया.

जीजा जी के पहुंचने की चिट्ठी थोड़ा ठहर कर आयी, 'हम लोग सकुशल पहुंच गये थे. बाक़ी यहां के समाचार ठीक ही ठीक हैं. मुदिता ने न बदलने की कसम खायी हुई है. घर की कलह से संजु पर भी बुरा असर पड़ रहा है.' इसके बाद प्रत्यावेदन से जुड़ी बातें लिखी थीं. चिटठी क्या आयी, घर की हवा बेचैन हो गयी. मुकेश परीक्षा देने दिल्ली गया हुआ है. पिताजी दीदी की चिट्ठी का इंतज़ार करने लगे. दीदी की भी चिट्ठी आ गयी. वही पुरानी बातों का नया संस्करण. पिताजी ने फिर समझाने वाली चिट्ठी डाल दी, एक भरोसा भी हमेशा की तरह नत्थी कर दिया. फिर एक लंबा अंतराल. इस बीच डाकिया बहुत सारी चिट्ठियां लाया, मगर उनमें कोई भी दीदी की नहीं थी. हां, मुकेश के इंज़ीनियरिंग में निकलने की चिट्ठी आ गयी थी. पिताजी का हौसला बढ़ा. पिताजी ने जीजा जी को पत्र भेजा कि राखी में मुकेश मुरादाबाद दीदी के पास आना चाह रहा है. वहां सबकी सहमति हो तो कुछ दिनों के लिए मुदिता और संजु मुकेश संग देहरादून आ जाएं. जीजीजी ने उत्तर देने में देर नहीं की,'संजु स्कूल जाने लगा है और मुदिता का 'ऐसे में' सफ़र करना ठीक नहीं है. डॉक्टर ने शुरू अक्तूबर की डेट दे रखी है; कुछ कॉम्लीकेशन्स भी बताए हुए हैं,' पिताजी ने चिट्ठी एक से ज़्यादा बार पढ़ी, फिर खुला अंतर्देशीय हाथ में पकड़े कुछ देर बैठे रहे. बैठे-बैठे ही चिट्ठी उनके हाथ से फिसल गयी, पिताजी को पता ही न चला.

आजकल मेरा पढ़ाई पर जोर है. मैंने नोट्स बना लिए; सब्जेक्ट की पुख़्ता तैयारी कर रही हूं. मैं नहीं चाहती कि ऐसी कोई दूसरी चिट्ठी पिताजी के हाथ से फिसले. मैं नहीं फिसलने दूंगी.

१७६, आराघर, देहरादून
मो. : ९४१०९८३५९६

कविता के बारे में

सुरेंद्र रघुवंशी

जीवन एक बड़ी कविता है
इसके बिंब बहुत कठिन हैं
बहुत दुरूह हैं प्रतीक भी,
इस कविता की भाषा के संपूर्ण पाठ के लिए
संवेदनाओं के स्वर चाहिए.

बहुत ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर चलते हुए,
यह सच्ची बात कहती है,
यहां कुछ भी मनोरंजक नहीं है
और जिसे मनोरंजक कहा जा रहा है
वह बिल्कुल भी कविता नहीं है.

पसीने से सराबोर होकर
यह चढ़ती है संघर्षों के पहाड़,
यहां टूटती हैं उम्मीदें
और सपने होते हैं चकनाचूर,
भयानक दृश्य आ जाते हैं सामने अचानक
पर रुकती नहीं है कविता की यात्रा.

यह इसलिए कविता है
अर्थात है जीवन,
क्योंकि इसे हर हाल में चलना है
और लड़ना भी है अपने हिस्से की लड़ाई,
हथियार डाल देने के खिलाफ़
यह एक बड़ा अभियान है.

यह पनपती है संवेदना की नमी से
और सत्य के सूरज के ताप से,
कविता के बारे में फ़िलहाल
यही कहना था आपसे.

महात्मा बाड़े के पीछे, टीचर्स कॉलोनी,
अशोक नगर- ४७३३३१ (म. प्र.)
मो. : ९९२६६२५८८६

गांठ

| पूनम मनु |

अंधा बांटे रेवड़ी,अपनों-अपनों को दे. कुदरत की फ़ितरत भी इंसानी है क्या? जो सबको समान नहीं देती, दुहांत करती है, पद्मा मौसी को देखकर रति सोचती थी.

पद्मा मौसी सचमुच कुदरत की सगी ही थीं. चंपई देह की लंबी शिरोधरा पर सुसज्जित उनका गौरवर्ण मुख ऐसे लगता जैसे संगमरमर की प्रतिमा को किसी ने पीतांबर ओढ़ाया हो जतन से और उस पर बिखरा गुलाबी आलोक अहा! दूध में कोई जो गुलाब घोल दे. घनी बरौनियों से घिरे दो बड़े किंतु पनीले दैवदीप ताज़ा दम बरसने को तैयार. लंबी खड़ी प्राणदात्री के नीचे दो अछूते अरुणारी ओंठ, चिकनी गोलाई लिए चिबुक... तिस पर उनके काले घने, लंबे केश और ऊंचा क़द मानों किसी फ़िल्मी नायिका इसके अतिरिक्त उनके सौम्य मुखमंडल पर चमचम करती ऋजुता हर स्त्री को डाह से भर जाने को पर्याप्त थी. उनकी देह के घुमावदार कटाव किसी पहाड़ी नदी के हठी होने की कहानी कहते थे. नरवीरों की दशा को वे स्त्रियां भली-भांति समझ सकती थीं. जो स्त्रियां उन पर से दृष्टि भी नहीं हटा पाती थीं. देखे से जो जी ना भरे ऐसा अतुलित सौंदर्य.

सौंदर्य की उस प्रतिमा के बाह्य आवरण को सब निहारते, सब सराहते. पर रति वह देखती जो किसी को नहीं दिखता... उनकी बंधी गांठें.

क्यों बांधती हैं पद्मा मौसी गांठ...? यहां गांठ... वहां गांठ... इसके घर की चादर में गांठ... उसके घर के पर्दे की किनारी में गांठ... अपनी साड़ी के आंचल में गांठ... कपड़े की गांठ... हाथ की उंगलियों की गांठ. पलंग पर हों चाहे नीचे ज़मीन पर पैरों को बांधकर जब भी बैठें तो यूं लगे पैरों की भी गांठ बनाई है पद्मा मौसी ने.

शिक्षा – एम. ए. (हिंदी).

एक कहानी संग्रह 'समंदर मंथन' तथा एक काव्य संग्रह 'कविता है कि स्त्री है', इसके अलावा दो साझा काव्य संग्रह. साझा कहानी संग्रह. एक उपन्यास और एक कहानी संग्रह शीघ्र प्रकाश्य.

लेखन : हंस, नया ज्ञानोदय, आजकल, वागर्थ, इंद्रप्रस्थ भारती, लमही, विभोम स्वर, हरिभूमि, कथाबिंब, प्रभात ख़बर, लोकमत, छत्तीसगढ़ मित्र, माटी, आभा किरण, हिंदी चेतना, उत्पल, वसुधा, अहा! ज़िंदगी, जनसत्ता, विश्वगाथा, समाज कल्याण पत्रिका आदि पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं प्रकाशित.

संप्रति : स्वतंत्र लेखन

'गठिया है क्या मौसी जोड़ों में?' पद्मा मौसी को कई बार टांगों को जोड़े देखा तो रति ने यों ही एक दिन पूछा था.

तब कोई चौंक उतर आयी थी उनकी हरिणी-सी अंखियों में. रति भी उनके इस तरह चौंकने पर अचरज से भर गयी थी. ऐसा क्या पूछ लिया उसने. वैसे भी तो कुछ भी पूछो उनसे कहां ही सही जवाब देती थीं. किसी भी प्रश्न पर मजाल क्या मुंह से फूटे कुछ जो उनके. कितना कह लो तनिक भी जो ढील पड़े भवों में. घर के काम करते भी यूं लगे जैसे सारा ध्यान इनका गांठों में ही है. छह बार पुकारो तब कहीं जाकर एक हां निकलती थी मुख से उनके, वो भी आं... जोड़कर.

'मौसी ऐसी भी क्या लत इसकी. नशेड़ी भी नशा अपने समय पर ही करता होगा. पर आप तो!' दिल तो करता कहे रति. मगर नहीं कह सकती न...

रति की पड़ोसन, राजस्थान वाली सुशीला आंटी की सबसे छोटी बहन हैं / थीं पद्मा मौसी. रति से मात्र चार वर्ष बड़ी. कुल तीस की. उसकी कोई सगी मौसी तो नहीं. सिर्फ़ मौसी बुलाने से वे उसकी मौसी तो नहीं न हो जातीं. काश! हो जातीं.

वे जब भी सुशीला आंटी के घर रहने आतीं. आंटी के पंख लग जाते. वे कभी पुरानी सहेलियों के यहां चली जातीं तो कभी बाज़ार. कभी-कभी तो दो-तीन हफ़्ते क्या महीना अपने गुरूजी के आश्रम चली जातीं. और बेचारी पद्मा मौसी रात-दिन उनके घर का चौका-चूल्हा फूंकतीं. कपड़े धोतीं, घर संभालतीं. तीन-तीन युवा होते उनके पुत्र और हट्टे-कट्टे अंकल जी. उनकी हर आवाज़ पर भागती-दौड़ती पद्मा मौसी को देखकर रति को बिलकुल भी अच्छा नहीं लगता. रति जब भी कभी उनके घर में झांकती तो मौसी का मुख लाल मिलता उसे. रति सोचती, मौसी क्या इस समय किसी पर क्रोधकर रही थीं. या छुप-छुपकर रोयीं ये.

क्रोध किया तो क्यों किया? अगर रोयी तो क्यों? मौसी को तो किसी पर भी क्रोध करने का अधिकार नहीं सुशीला आंटी के घर में... तो फिर रोयीं? सवाल मथते रति को कभी, सवाल को मथती रति कभी.

सुशीला आंटी भी तो कुछ नहीं बताती थीं कभी कि पद्मा मौसी गांठ क्यों बांधती हैं? उनका मुंह अक्सर लाल क्यों हो जाता है? उनकी पलकें कभी-कभी उसे जुड़ी हुई-सी क्यों दिखती हैं?

'ए रत्ती!, वहम है तेरे को. ऐसा तो कुछ नहीं है.' कहकर टाल देती थीं सुशीला आंटी. वे सोचती थीं, मामला क्लियर हो गया है. जबकि रति जानती थी ये उसका भ्रम नहीं.

'तेईस-चौबीस साल पहले जब उनका (सुशीला आंटी) और उनकी दूसरी बहन विद्या का ब्याह हो रहा था. तभी उनके भावी ससुर की मांग पर उनकी तीसरी बहन पद्मा का विवाह भी उनके देवर के साथ कर दिया था उनके भाई ने. तब पद्मा छह बरस की रही होगी.' सुशीला आंटी ने कई बार ये बात रति को बतायी थी.

यह भी कि तीनों जोड़ों में उस समय एक भी जोड़ा बालिग नहीं था. यह भी बताया था कि तब इस तरह के विवाह होना बड़ी सामान्य–सी बात मानी जाती थी. आज भी कई इलाक़ों में ये सब दोहराया जाता है. पर ढके-छुपे ही. विवाह के उपरांत गौना, चाला जैसी परंपरागत रस्में होतीं. उसके पश्चात विदाई. जिसमें अच्छा-ख़ासा समय लिया जाता था, ताकि लड़की इस अवधि में, मानसिक और शारीरिक रूप से गृहस्थ जीवन को समझने योग्य हो जाये.

ऐसा ही उनके यहां भी हुआ था.

इस तरह बहुत बड़ी बात को बहुत छोटा और मामूली-सा बनाकर ब्यान किया था सुशीला आंटी ने. मगर बात इतनी छोटी नहीं थी. जितना कि रति को पद्मा मौसी की चाची से 'ग़लती से' पता चला था. 'ग़लती' से क्यूंकि चाची पहली बार ही दिल्ली आयी थीं. और उनको अपने पराए का भेद नहीं पता था.

चाची ने रति को बताया था —'बड़ी बहन की बिदाई के समय तक तो पद्म ब्याह के मायने समझने लायक नहीं हुई थी. पर जब दूसरी बहन विद्या अपनी ससुराल गयी तो पंद्रह में लगी पद्मा आंसू भर-भर रोयी थी. घर में अकेले रह जाने के गम से अधिक उसको ससुराल जाने की छटपटाहट ज़्यादा थी. उसका हिवड़ा अब उस अदेखे को देखने को करने लगा था. जिसको कभी देखा न था. पर जो उसका था. जो उसका परिणेता था. और जो उसे क़िताबों के किस्सों-कहानियों में दिखाई देता था. जिसे लोककथाओं में सुनती थी. जिसे रोज़ आसमान-सा ओढ़ती थी. जिसको सोचते ही लजा जाती थी. उसका मन अब पूरा बसंती था. जिसमें रोज़ पलाश खिलता हज़ारों हज़ारों सपने लिये. अट्ठारह की होते तक तो वह बावरी हो चली थी. जब भी पपीहा बोलता... उसके हृदय से हूक उठती... पिया!

क़द की उभी मैं मग जोऊं, निस-दिन बिरह सतावै।
कहा कहूं कछु कहत न आवै, हिवड़ो अति उकलावै?
पिय कब दरस दिखावै?

मीरा को गाती, पिया को भजती.

फिर वह शुभ घड़ी भी आयी. जब उसकी ससुराल से संदेसा आया — 'पद्म को लेने आ रहे हैं वे लोग! उसकी विदाई की तैयारी कर लें!'

पद्मा ने सुना तो मोरनी-सी नाच उठी. सुना है, पृथ्वीराज चौहान-सी मूंछें हैं उनकी... तो, वह भी कौन संयोगिता से कम है. आयें तो!

सुबह से शाम हो गयी थी राह तकते. ससुराल से कोई आता क्यों नहीं दीखता. दम अब निकला कि तब... अरे! कोई बुलाओ रे, म्हारे मेहर सा को... कोई बुलाओ री...! ढोलना... केसरिया... बालमा, पधारो म्हारे देस जी... पधारो म्हारे देस... म्हारे पृथी...!

'घणी बावली हुई है पदम...' उसको चिढ़ाती, उससे हंसी-ठट्ठा करती उसकी सखियां उसे संभालती ही रह गयी थीं. पढ़ाई को शहर गये उसके केसरिया बालम, उसको लिवा लाने को गांव लौटते, बीती रात ही सड़क दुर्घटना का शिकार हो गये थे. वे भी उतने ही उतावले थे अपनी प्रिया से मिलने को जितनी कि वह. मेरी पदम... मेरी पदम... रटते प्राण छोड़े उन्होंने.

पदम ने सुना जो... वा पछाड़ खाकर जो गिरी, महीनों बिस्तर से ना उठ सकी थी. ससुराल तो आयी थी. मगर सुभागन नहीं, अभागन होकर.

हां!

रति के दिल पर रखा हाथ कांपता रहा था बहुत देर तक... कली खिलने से पहले ही मुरझा गयी थी. कितनी वाचाल कितनी चंचल रही होंगी पद्मा मौसी की आंखें. उनकी देह यष्टि. उनकी बरौनियां. उनके केश और उसकी आत्मा. जो एक जगह ठहरे तो फिर सदा को थिर हो गये. यूं लगता, वक़्त का कोई दूषित लम्हा उसके हाथ से छिटककर उन पर गिरकर, बर्फ की शिला हो गया हो. कंपन होता होगा कभी देह में, पपड़ाए होंठों में, झुकी पलकों में तो बस इतना ही कोई बूंद ओस की किसी अध-खिले फूल की कोमल पंखुड़ी पर ठहरी हुई सी, हवा की जरा-सी आहट से सिहर जाये.

चाची ने बताया — दिन महीने साल गुज़र गये जो अपना मुख उसने आइने में देखा हो. वो गठरी बन बिस्तर पर पड़ी रहती थी हरदम. जो भी आता उसके भाग को रोता. 'क्या होता है भाग? कौन बनाता है? और कौन ही फोड़ डालता है. उसने तो ना देखा. ना छुआ. फिर कैसे फूट गया?' अपने आप ही बड़बड़ाती रहती.

चाची बता रही थीं — भला था, उस घर में जेठानियों के रूप में उसकी ही दो बड़ी बहनें थीं. नहीं तो हो सकता है, लालच में जेठ-जेठानियां बलात बनायी गयीं अनगिनत सतियों की तरह पदम को भी उसके ब्याहले के साथ ही उनकी जलती चिता में बैठा देते. सतियों की महिमा का गुणगान करते हुए उसका भी एक चौरा चिनवा देते.

बड़ी हवेली की सबसे छोटी बहू थी पदम. उसके हिस्से कनस्तर भर सोना और कट्टे भर चांदी के साथ-साथ कई किल्ले ज़मीन भी आयी थी. जंवाई सा के बैंक के खातों में भी कई लाख रुपये जमा थे. पर वह बिचारी आयी बड़ी

बहन के हिस्से.' चाची के शब्दों का बर्तन खाली होते ही रति की जिह्वा पर कसैलापन फैल गया था —

'चाची, पद्मा मौसी बचपन से ही कपड़ों में गांठ बांधती हैं क्या ?'

'ना लाडो, वो पेहले इसी ना थी... इब ही... पता नहीं कसे.'

चाची तो चली गयी थीं. मगर उनके वे शब्द, 'पता नहीं कसे...' ज़हनी तौर पर रति को बेचैन कर गये थे. कभी सोचती रति ये गांठें कहीं उनके स्वर्गीय पति से बतियाने के साधन तो नहीं! ख़ैर...

सुशीला आंटी की एक आदत रति को बिलकुल अच्छी नहीं लगती थी. औपचारिकता निभाव को सुशीला आंटी पद्मा मौसी को एक दो अड़ोसियों–पड़ोसियों के घर ज़रूर भेजती थीं. वो भी जब, मौसी अपने घर भरतपुर वापस लौटने वाली होती थीं तब. आंटी का ये लोक-व्यवहार पद्मा मौसी को अस्थिरचित्त करता है, रति ये अच्छे से समझती थी. मगर सुशीला आंटी नहीं.

'मना कर दो मौसी. कोई जाना ज़रूरी थोड़े है.' रति समझाती पर पद्मा मौसी...जो उनकी जिज्जी कहेगी, करेंगी. भले दूसरे के घर में वे कितनी ही गांठें क्यों ना बांध आयें. रति को ग़ुस्सा भी आता. उनके इस असहज कृत्य से रति खीझ चुकी थी. अचरज की बात तो ये थी कि मौसी की गांठ बांधने की ये एब्नॉर्मल आदत सब के लिए सामान्य-सी बात थी.

सबका कहना था, 'दुःखी है बिचारी... विधवा... मन अशांत है इसका ... उसी दुःख में बांधती है ये गांठें और क्या!' जबकि रति इस बात से सहमत नहीं थी.

दोपहर में सभी स्त्रियां अपने घरों में बहुधा, अकेली होती हैं. गृह कार्य से कुछेक देर को मिले, विराम काल के ये क्षण ही गृहणियों के हाथ आते हैं. और इन्हीं पलों को ये गृहणियां इन्हीं लोक-व्यवहार के काम में लाती हैं. जिनमें एक स्त्री का दूसरी स्त्री से मेल-मिलाप के साथ सुख-दुखका परिचय भी हो जाता है. मौसी को उनके घर भेजने का सही समय यही है. आंटी ये भली-भांति जानती थी. कोई ऐसा न था जिसको मौसी से सहानुभूति न थी. इसलिए उनके अपने घर आने पर सब प्रसन्न ही होते थे. मगर रति... जिसको सुशीला आंटी मौसी की बॉडीगार्ड बनाकर उनके साथ भेजती थीं. उसे मौसी प्रायशः उन लोगों के घरों में, किन्हीं विकट प्रकार के भावों से घिरी दिखती थीं. वे भाव जो उसको बहुत विचलित करते थे.

इसी कड़ी में, उस दिन पद्मा मौसी का वह लोक-व्यवहार निभाव रति के घर था. और रति ने मन में निश्चय किया था — आज तो वह इन गांठों, इन भावों का रहस्य पता करके ही रहेगी!

हरेक बार बेचैनियां किसी आपद की ही देन नहीं होतीं. ये कभी किसी के आगमन से भी जन्म ले सकती हैं. उस दिन मौसी के विचारों में उलझी रति कई बार मुख्य द्वार तक झांक आयी थी. जबकि आंटी के गेट की चूं..चां... सब भेद खोल देती है कि अब कोई आया... अब कोई गया... फिर भी वह अनिश्चितता से घिरी चक्कर पर चक्कर काटे जा रही थी. वैसे तो हर बार का उसका यही राग था.

उस दिन भी, उसकी हर क्रिया, प्रतिक्रिया से अनभिज्ञ पद्मा मौसी वैसे ही अपने नियत समय पर आयीं जैसे वे हर बार आती थीं, और वह उतने ही उछाह से उनसे लिपट गयी थी. जितनी कि हर बार लिपटती थीं. जबकि मौसी हर बार उसकी इस अभिप्रीति की हवा अपने ठंडे भाव से निकाल देती थीं. उसका, उनको देखकर खिलखिलाना और मौसी की अनिष्पादित मुस्कान. उनके गले लगने पर कई बार लगता उसे जैसे उन्होंने उसे जकड़ लिया है. कई बार लगता, गले मिली ही नहीं. हाल पूछा उनका तो उतना ही बताया जितना कि वे हर बार बताती थीं. कभी अध खुले कंठ से. कभी अध खुले अधरों में, आधे अंदर ही जवाबों को खा जाती हुई.

पहले का कोई और दिन होता, तो जो भी बोलना होता, रति को ही बोलना होता. उसे ही मौसी को इंटरटेन करना होता. वह ही हंसती, वह ही मुस्कराती, चाय बनाती, पकौड़ियां तलती. उनके आगे कई प्रकार के नाश्ते के ढेर लगाती. पर वे उतना ही खातीं, जितना वे हर बार खाती थीं. एक कप चाय के साथ एक बिस्किट और उसके बहुत मनुहार पर मूंगफली का एक दाना. और वह जितना बोल सकती, उतना बोलकर वह भी चुप हो जाती. इस बार भी उन दोनों के मध्य कोई चुप्पी आकर ठहर जाती. चुप्पी...उनके अमूल्य क्षणों को कुतरती हुई. और मौसी हमेशा की तरह उसके पलंग पर बिछी चादर के धागे निकालकर उनमें वैसे

ही गांठ बांध जातीं. गांठ... जिसे देखकर वह फिर उचाट मन हो जाती.

'किंतु आज नहीं...आज उसके साथ उसकी बुआ हैं.' रति मौसी को देखकर आश्वस्त हुई.

साठ वर्ष की होती आयी उसकी बुआ, एक बाल विधवा थीं. जो उसके बहुत मनावन पर पद्मा मौसी की मानसिक दशा को परखने उसके पास एक-दो दिन को आयी थीं. उनको भी ऐसे ही कई बरसों तक उसने सकुचाते देखा था. वे भी अपने मन की बात सिवाय उसके कभी किसी को नहीं बता पाती थीं. परंतु ज्यों-ज्यों उनकी उम्र बढ़ती गयी वे अपेक्षाकृत अधिक सहज होती गयीं. खुलकर हंसना, सबसे मिलना, भजन गाना उनके स्वभाव में शामिल हो गया था.

'बुआ, ये पद्मा मौसी हैं'

जब रति बुआ को पद्मा मौसी के विषय में सब पहले ही बता चुकी थी तो इस परिचय में बुआ को मौसी से मिलकर सहज रहना चाहिए था. लेकिन नहीं, बुआ उनको देखते ही फूल-सी मुरझा गयीं. मानों कुछ बिसरा स्मरण हो आया था उन्हें. बुआ को देखकर मौसी का दो चित्ता होना रति को समझ आया था.

'आप बैठो जरा इनके पास... मैं चाय बनाकर लाती हूं,' किसी सांकेतिक भाषा का प्रयोग करते हुए उसने मौसी को अपनी बुआ को सौंप दिया था.

चाय नाश्ते के साथ वापस ड्राइंग रूम में लौटी रति ने देखा, बुआ, सुबकती पद्मा मौसी की पीठ पर हाथ फेरते हुए, उन्हें धीमे शब्दों में कुछ समझा रही हैं. उसको आते देख पद्मा मौसी कुछ संयत-सी होकर बैठ गयी थीं. बुआ का सहजता का प्रदर्शन किसी गोपन के आदान-प्रदान की संभावना को दर्शा रहा था.

'लो, पदम...चाय पियो बच्चे!' बुआ के हठ पर मौसी ने पूरी दो पकौड़ियां खायी थीं. ये पहली दफ़ा था जब रति ने मौसी को रूखी-सूखी बिना मिर्च मसालों की उनकी रोटी सब्ज़ी से अलग कुछ उनको खाते देखा था. हालांकि उस दिन भी पद्मा मौसी ने वही चुप्पी पहन रखी थी. जो वे हमेशा पहनती थीं. मगर इस बार वे पहले से अधिक सहज और थिर-सी लगी रति को. उन्होंने उसकी चादर का एक भी धागा उस दिन नहीं निकाला था. रति के लिए ये घोर अचरज की बात तो थी. पर सुखद भी घनी थी. मौसी को बुआ ने गीता देकर विदा किया था.

उनके जाने के पश्चात होना तो वही चाहिए था. जो हर बार उन घरों की महिलाओं के साथ होता था. जहां से मौसी नाश्ते पानी के बाद उठकर चली जाती थीं. एक मारक उदासी जो सबको अपनी चपेट में ले लेती थी. उसको भी ले लेती. और वह भी सब की तरह उनके आने से ख़ुश होने के बाद भी उनकी बोयी श्यामता को किसी भी आरी से नहीं काट पाती. मगर उस बार रति को लगा उसके पास आरी है. वह काट देगी हर उदासी को जो भी पद्मा मौसी के इर्द-गिर्द है. अब उसे उसके सभी प्रश्नों के उत्तर मिल जाने वाले थे.

'बुआ, पद्मा मौसी... गांठें... आपने पूछा? कुछ बताया उन्होंने?'

'एक बात समझ रति! गांठ खोलने से सांस आती है. समय आने दे सब बताऊंगी,' कहती हुई बुआ अपने इष्ट के भजन में लीन हो गयी थीं.

'ओह! बुआ...' बुआ की गोलमोल बातों का सही विश्लेषण करती रति यदि समय ने साथ दिया होता. दिल में छेद के कारण उसी रात को बुआ की बिगड़ती तबीयत पर उन्हें आनन-फानन में जो अस्पताल पहुंचाया था. फिर वे वापिस घर ना आ सकी थीं. हफ़्ते भर की तकलीफ़ के बाद उन्होंने परमधाम का रुख़ कर लिया था. लुटी-पिटी घर लौटी तो उसे ज्ञात हुआ पद्मा मौसी भी उसी दौरान अपने घर भरतपुर लौट गयी थीं. बहुत कुछ खो जाने के एहसास ने बहुत कुछ खाली-सा कर दिया था उसके भीतर. अजीब दिन थे. महीना भी ना हुआ था पूरी गली में चर्चा थी — 'पद्मा ने अपने हिस्से की ज़मीन जायदाद के लिए सुशीला आंटी पर मुकदमा कर दिया है.'

भोली सी पद्मा मौसी ने आंटी पर मुकदमा... रति को विश्वास ही नहीं हुआ था. पर कुछ तो भला था इस समाचार में जो रति को किसी अनजानी खुशी से भरे दे रहा था.

देखते-देखते तीन वर्ष बीत गये. सब अपनी भागती ज़िंदगी के साथ हांफने में मसरूफ़ थे. रति चाय का प्याला थामे उस शरमाई-सी सांझ को अपने आंगन में खड़ी बड़ी शिद्दत से देख रही थी कि तभी उसके घर के दरवाज़े पर सफ़ेद रंग की एक बी एम डब्ल्यू कार आकर रुकी.

इतनी बड़ी कार! रति प्याला वहीं रख, असमंजस में

मुख्य द्वार खोलकर झांकने लगी. उस कार से कोई उतर रहा था. कोई जाना पहचाना-सा चेहरा... फूल-सा खिला हुआ. कोई नव-ब्याहता, मगर कौन....? वह सोच ही रही थी कि उसने रति को धप्प से आकर अपने अंक में भर लिया — 'रत्ती!'

आवाज़ को पहचानते ही रति ख़ुशी के अतिरेक में चीख़ पड़ी, 'पद... पद... मा मौ...सी!'

वे पद्मा मौसी थीं. सुहागन के वेश में, साथ में एक शानदार व्यक्तित्व के स्वामी ने उसे अचरज में डाल दिया था. 'रति, ये विक्रम सिंह... मेरे वकील, मेरे पति' उनकी शालीनता भरी मुस्कान उनके सज्जन होने का परिचय दे रही थी.

उसके ही घर में वे उसे हाथ पकड़कर अंदर ले आयी थीं. मौसी ने अपने हल्के से उभरे पेट पर उसका हाथ रखा, 'मेरा बच्चा' उसे लगा वह कोई सपना देख रही है. ये पदमा मौसी वो पदमा मौसी बिलकुल नहीं हैं. जिनकी छवि उसकी स्मृतियों में आज तक खलबली मचाती रही है.

'जानती है रति, जिन आशाओं और आत्मसम्मान की अस्थियों के कलश मैं रात-दिन उठाए फिरती थी. वे कलश खुल ना जाएं कहीं, कभी... उन पर लगातार गांठें बांधती रहती थी. वे गांठें... मेरे पागलपन के प्रमाण नहीं थे. वे गांठें मेरी घुटन की गवाह थीं रति! जिन्हें केवल तुमने पहचाना. मैं तुम्हारी आभारी हूं, और उन महान आत्मा की भी, जिन्होंने मुझे गांठें खोलना सिखाया.' पदमा मौसी जैसे उसे उसके प्रश्नों के भंवर से उबारने आयी थीं.

'मौसी, अस्थियों के कलश...? मैं समझी नहीं!'

'रति, जब एक जीजा, एक संरक्षक, एक पिता बनने की बजाय केवल एक पुरुष, एक भोगी बन जाये. असहाय स्त्री का शारीरिक, मानसिक आर्थिक शोषण करे तो बता कैसे वह अपना आत्मसम्मान बचाए? जब एक सगी बहन, अपनी ही बहन को सब कुछ चुपचाप सहने को मज़बूर करे तो बता उस बहन की कितनी आशाएं जीवित रही होंगी? हर पल एक मौत मरती औरत के पास क्या कोई आस बची रह सकती है? अपनी ही बहन जब हमें जीती जागती सती में तब्दील कर दे तब क्या कोई यक़ीन, कोई भरोसा बचता है रति! इससे तो अच्छा होता मैं भी इनके द्वारा तभी सती कर दी जाती. ये रोज़-रोज़ की यातना मेरा दिमाग़ी संतुलन बिगाड़ रही थी रति! रति! दसियों वर्षों से मैं एक रात भी बेफ़िक्री की नींद नहीं सो सकी थी. हर आहट पर डरती हुई. सर्दियों में भी पसीना-पसीना रहती थी. रति... रति... कई बार मेरा गर्भपात करवाया इन्होंने.'

रति को जैसे सन्निपात हुआ था — 'मौसी...' उसके पड़ोसी इतने वहशी. उफ़! सुशीला आंटी... हे राम!

'हां रति... हां', सब तुमने पहचाना. तुमने पहचाना कुछ तो ग़लत है. रति, बुआ जी और तुम्हारे जैसी स्त्रियां करोड़ों की संख्या में होनी चाहिए. ताकि हर इंसान पर अपनी गहरी दृष्टि रखकर उनके साथ होते अपराध को पहचान सकें. और... और... हिच्च.'

'लेकिन मौसी इस सबके लिए आप भी स्वयं बड़ी ज़िम्मेदार हो. पहली ही बार में यदि आपने अपराधियों के हाथ रोक दिये होते. और अपने दिवंगत पति की याद के साथ-साथ उनकी संपत्ति और अपने जीवन को भी संवारा होता तो आपको कभी किसी रति की दृष्टि की ज़रूरत नहीं पड़ती.' रति आवेश से भरी थी.

'सही कहती हो रति...सही.'

एक-डेढ़ घंटे में विषाद, क्षोभ, ख़ुशी, उल्लास के कई क्षण उसके साथ बिताकर मौसी अपने घर लौट गयी थीं. रति मौसी के लिए बहुत ख़ुश थी. ख़ुश थी कि स्वाभिमानी विक्रम सिंह जी ने उनकी सांसों के लिए हवाओं के रुख़ मोड़ दिए थे.

बुआ ने सही कहा था — 'गांठ खोलने से ही सांस आती है.'

बी- २८५, श्रद्धापुरी फेज-II,
सरधना रोड़, कंकर खेड़ा,
मेरठ- २५०००१. (उ. प्र.)
मो. : ९०१२३३९१४८
ई-मेल : poonam.rana308@gmail.com

भूल सुधार

पिछले अंक में प्रेस की ग़लती से 'मैं कैसे हंसू' (कहानी-संग्रह) की समीक्षक का नाम सीमा जैन चला गया था, सही नाम सुषमा मुनींद्र होना चाहिए. पाठक कृपया सुधार लें.

नीड़ से बिछुड़े

| महेश शर्मा |

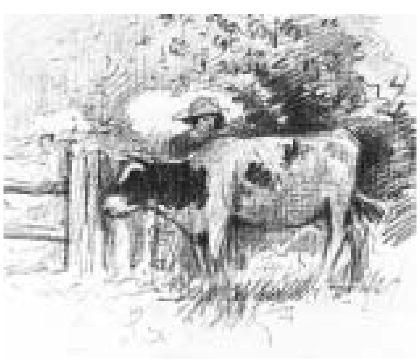

भुवन की नींद लगी ही थी कि गाय के रंभाने की आवाज़ से वापस खुल गयी. उसने अंदाजा लगाया रात के बारह बज रहे होंगे, शायद. आसपास देखा एक खाट पर घरवाली रूपली और उसका १२ साल का लड़का धनिया सोये हुए थे. कोने में दो बकरियां बंधी थीं, कंदील लेकर बाहर निकला, बाड़े में बंधी गाय रंभा रही है.

बाड़े में पहुंचा तो बड़ी आस भरी निग़ाहों से गाय ने भुवन की ओर देखा.

पहले तो कुछ समझ नहीं आया भुवन को, तभी उसे गाय के पांवों में पानी लहराता दिखा, वो चौंका! तो क्या बांध का पानी यहां तक आ पहुंचा है? शाम तक तो उसे ऐसा कोई डर नहीं था. पानी उसके झोपड़े से ४-५ फिट दूर था और ऐसी कोई संभावना भी नहीं थी कि पानी आगे बढ़ेगा.

उसका झोपड़ा काफ़ी ऊंचाई पर था. शायद ऊपर कहीं पानी गिरा हो उसने सोचा, पहले तो तत्काल गाय को ऊपर की तरफ़ बांधना पड़ेगा. उसने गाय को खोला और अपने झोपड़े की परली तरफ़ ऊपर की ओर बांध दिया. फिर कुछ चारा डाला. गाय भी अब आश्वस्त होकर आराम से बैठ गयी थी. भुवन वापस अपनी खाटली पर आकर लेट गया, सोने की कोशिश की लेकिन नींद उससे कोसों दूर थी.

उसे लगा शायद परलय इसी को कहते हैं. धर्म शास्त्रों में जो लिखा है, चारों ओर पानी ही पानी, लेकिन ये परलय भगवान ने तो नहीं भेजा यह तो ज़िले के बड़े अफ़सर ने भेजा है, एक नहीं बहुत से अफ़सर — कोई ज़मीन नापने वाला, कोई बांध बनाने वाला, कोई चेक देकर ज़मीन से बेदख़ल करने वाला. क्या ये सब भगवान के दूत हैं जिनको भगवान ने परलय पर दुनिया में उसे सबसे अच्छा लगता लाने का ठेका दिया है? भुवन

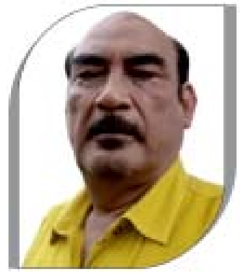

जन्म -१ दिसंबर, १९५४, शिक्षा : विज्ञान स्नातक
लेखन विधा : कहानी, कविता, गीत, ग़ज़ल एवं उपन्यास, लघुकथा, आलेख.
लगभग ४० लघुकथाएं, ६०कहानियां, २०० से अधिक गीत और १५० के लगभग ग़ज़लें.

प्रकाशन : साहित्य अमृत, संबोधन, साहित्य गुंजन. परिंदे, वीणा, शब्द प्रवाह,कथाबिंब, अभिनव प्रयास, मधुमती, साक्षात्कार,अनंतिम, राजस्थान पत्रिका, वागर्थ, इंद्रप्रस्थ भारती, मुक्तांचल, मधुराक्षर, नूतन कहानियां, परिकथा एवं अन्य कई पत्र-पत्रिकाओं में १०० से अधिक रचनाएं प्रकाशित. एक कहानी संग्रह 'हरिद्वार के हरी', एक गीत संग्रह 'मैं गीत किसी बंजारे का', कुछ साझा संग्रहों मे कहानी एवं गीत प्रकाशित, एक कहानी संग्रह 'आखिर कब तक' (शीघ्र प्रकाश्य); एक उपन्यास 'एक सफर घर आंगन से कोठे तक' (शीघ्र प्रकाश्य).

विशेष : कहानी 'गरम रोटी' का 'रूबरू रंगमंच,' दिल्ली द्वारा नाट्य मंचन.

सम्मान : राजस्थान की पत्रिका 'साहित्य समर्था' से श्रेष्ठ कहानी पुरस्कार, मध्य प्रदेश संस्कृति विभाग से साहित्य पुरस्कार.बनारस की 'सोच विचार' पत्रिका से ग्राम्य कहानी प्रतियोगिता अंतर्गत पुरस्कृत, श्री गोविंद हिंदी सेवा समिति मुरादाबाद से अंर्तराष्ट्रियसाहित्य सम्मान समारोह में 'हिंदी भाषा रत्न' से सम्मानित, लघुकथा के लिए शब्द निष्ठा सम्मान २०१७ से सम्मानित, अन्य कुछ सम्मान / पुरस्कार. रोटरी क्लब के अध्यक्षीय प्रभार के साथ सामाजिक कार्यों में सहभागिता. काव्य गोष्ठियों के अलावा यदाकदा मंचीय काव्यपाठ.

संप्रति : सेवा निवृत बैंक अधिकारी.

की मोटी बुद्धि में कुछ नहीं आया.

सोचते-सोचते उसकी आंखों में बड़े-बड़े आंसू ज़रूर आ गये, और याद आ गया पूरे गांव का नक़्शा, कहां क्या था? सिर्फ़ एक बरस पहले की ही तो बात है, उसका गांव इलाक़े का एक अच्छा संपन्न गांव था, छोटे बड़े ५०-६० टपरे थे सभी उसके जाति-बंधु थे. उसका गांव स्वरग जैसा भले ना हो था. किंतु उसे अच्छा लगता था.

बीच गांव में माता मां का ओटला जिसके आसपास रोज़ सुबह गांव भर के ढोर इकट्ठे हो कर गुवाल के साथ चरने जाते थे जहां वो अपनी गाय और बैल छोड़ने जाता था और दो घंटे सुबह की धूप में बैठ कर साथियों से गप्पें हांक कर वापस आता था. ओटले के पास मैदान में दिन भर और शाम को भी गांव के छोटे-बड़े बच्चे धूल में दौड़ने, छिपा-छुपी, गुल्ली डंडा और दूसरे खेल खेलने में अपना मनोरंजन करते थे, समय बिताते थे.

उसने झोपड़े के बाहर आकर चारों तरफ़ नज़र डाली, कहीं पता नहीं था उस माता मां के ओटले का, ढेरों पानी में डूब गया था वह. उसे आश्चर्य हुआ माता मां भी इन कलयुग के परलय लाने वालों से हार गयी, कुछ ना कर सकी? और चौधरी का वो आम का बग़ीचा जिसके आम हर साल गांव के क्या छोटे, क्या बड़े दिन भर कभी चोरी से कभी चौधरी से पूछ कर, कभी ख़रीद कर चूसा करते थे, वह सब भी इस जल परलय में समा गया.

भुवन को पिछली तीन पीढ़ी की याद है, उसके बाप दादा, परदादा इसी गांव में रहे, उसी चार बीघा ज़मीन के टुकड़े से अपना भरण-पोषण करते हुए ज़िंदगी पूरी कर दी. ना जाने उसने क्या पाप किया था जो उससे उसका गांव छूट रहा है, उसकी ज़मीन छूट रही है और अब ये झोपड़ा भी छोड़ना पड़ेगा. उसे ज़मीन का मुआवज़ा मिला है और वह अभी भी बैंक में जमा है. सरकार ने कहा था कि तुम्हें ख़ूब पैसा दे रहे हैं, नयी जगह ज़मीन ख़रीदो, नयी जगह मकान बनाओ और मजे में रहो. पर मजे में कैसे रहो? हमारा वो भेरू बापजी का मंदिर, माता मां का ओटला,वो गाय ढोर के पीने के पानी का तालाब, हरी काका का लंबा चौड़ा मकान, वो अमराई, पीपल के पेड़ के नीचे की चौपाल, जहां गांव के लोग ताश खेलते थे और रात में गप्पें हांकते थे. वो सब

कहां गये? उनका क्या होगा? क्या ऐसे ही चलते-फिरते किसी को कहीं से भी उठा दो और कहीं भी बसने का कह दो? क्या यह इतना सरल है? क्या दिल्ली की सरकार चलते-फिरते दिल्ली से उठकर कहीं भी बस जाएगी ?

भुवन का मन बड़ा कसैला और विद्रोही हो उठा, पर वो जानता था कि इन जालिमों के आगे उसकी नहीं चलेगी. आठ दिन पहले नीचे वाले फलिए के सभी लोगों को पुलिस जबरन पकड़ के ले गयी थी और उनका सामान ट्रैक्टर में डाल के १५-२० किलोमीटर दूर छोड़ आयी थी. कह रहे थे वहां मकान बनाने की ज़मीन सरकार मुफ़्त में दे रही है.

वो तो उसका झोपड़ा टेकरी पर है और उसकी अर्जी दे देने से उसको ८-१० दिन की छूट मिली है, नहीं तो उसको भी ज़बरदस्ती यहां से उठाकर कहीं भी पटक देंगे, कहेंगे यही तुम्हारा गांव है अब यहां रहो. और ज़मीन? वो कहां ख़रीदेंगे? सरकार बोली, जहां मिले वहां ख़रीदो हमको कोई मतलब नहीं.

अचानक उसकी नज़र धनिया पर पड़ी, आज दिनभर वो रोता रहा. उसका स्कूल डूब गया. स्कूल के और गांव के चार पांच संगी-साथियों के झोपड़े भी डूब गये और वो जाने कहां चले गये. अब उनका कोई दोस्त भी नहीं बचा. वो किसके साथ खेले? कहां पढ़ने जाए? भुवन ने उसे बड़ी मुश्किल से चुप किया. समझाया कि तेरे संगी-साथी वापस मिल जायेंगे. लेकिन कैसे मिलेंगे वो नहीं जानता. झोपड़े से लगी उसकी चार बीघा ज़मीन जो सोना तो नहीं उगलती थी पर पूरे परिवार का पालन करती थी. घर से लगी हुई धरती माता, वो भी उससे दूर हो गयी. ज़मीन की सोचते ही उसकी भर्राई सांसों ने हिचकी का रूप ले लिया और तभी चला खांसी का दौर. पास में सोयी रूपली उठ बैठी, देखा भुवन बच्चे जैसा हिचकियां भर रहा था. रूपली ने भुवन के नज़दीक आकर समझाया. क्यों रोज़ रोज़ रोते हो, मन छोटा करते हो. मरद हो ज़रा धीर रखो, भगवान जहां भेजेगा वहीं रहेंगे, जैसा रखेगा वैसे रहेंगे, इनका नाश होगा जो हमारे घर ज़मीन छुड़ा रहे हैं.

नाश शब्द से भुवन को याद आया, कोई मंत्री गांव में आया था एक बरस पहले वो भाषण दे रहा था तो कह रहा था कि ये बांध तुम्हारे विकास के लिए बना रहे हैं इससे चारों तरफ़ ख़ुशहाली होगी, तुम्हारा जीवन सुखी होगा, स्वरग जैसा. पर उसकी सब बात उलटी निकली. हालांकि चौधरी के बेटे दिनेश ने जो शहर में पढ़ता है उसने ज़रूर समझाया था कि भुवन काका सरकार सही कर रही है. इस बांध से हमारे आसपास के बहुत सारे गांव सिंचित हो जायेंगे फ़सल अच्छी होगी, ख़ुशहाली बढ़ेगी.

पर हमारा क्या होगा? जब भुवन ने पूछा तो वो नयी उम्र का छोरा बड़ी बेफिक्री से बोला, हां तुम्हारा गांव ज़रूर छूटेगा, घर छूटेगा और तुमको दूसरी जगह जाना पड़ेगा. तभी भुवन गुस्सा खा गया, इसको विकास कहते हैं? हमारी बलि लेकर दूसरों का विकास? तो हमारा क्या दोष? हमारी क्या ग़लती है? ये तो अन्याय है इनको क्या हक़ है किसी को बर्बाद करके दूसरों को आबाद करने का?

अरे भुवन काका, दिनेश ने फिर समझाया, तुमको ख़ूब पैसा मिलेगा, शहर जाकर रहना, नयी ज़मीन ख़रीदना, नया घर बनाना. लेकिन भुवन को यह गोरखधंधा सही नहीं लगा कि किसी को भी बिना उसकी मर्जी के बर्बाद कर दो दूसरों के फ़ायदे के लिए. उसके विकास की क़ीमत पर हम अपना घर क्यों छोड़ें?

दिनेश चिढ़कर बोला, तुम लोग तो अनपढ़ देहाती हो ज़रा-सी ज़मीन का टुकड़ा छूट रहा है तो पैसा भी मिल रहा है फिर भी रो रहे हो. इतने रुपयों में तो इससे अच्छी ज़मीन मिल जाएगी. भुवन ने फिर अड़ंगा लगाया, ठीक है मैं अनपढ़-देहाती, ज़रा-सी जमीन के टुकड़े वाला हूं बेवकूफ़ हूं जो रो रहा हूं पर तेरे बापू! चौधरी काका तो पढ़े-लिखे हैं ज़्यादा ज़मीन के मालिक हैं उनको तो पैसा भी ख़ूब मिल रहा है फिर? मेरे को मालूम है आठ दिन हो गये हैं ढंग से रोटी खाए, और रात को मुंह छिपा के बिसूरते रहते हैं, क्या वो भी पागल हैं? अब दिनेश भी चुप था, इसका कोई जवाब उसके पास नहीं था.

भुवन की विचारधारा भंग हुई. रूपली पीठ पर हाथ धरे समझा रही थी. भुवन कुछ शांत हुआ. इतना कुछ सोचते-सोचते कब नींद लग गयी उसे पता नहीं चला. सुबह-सुबह नींद खुली, पूरे झोपड़े में सूरज का उजाला फैल गया था, बाहर निकल कर उसने अपने सरगलोक को

देखा जो धीरे-धीरे जल परलय में डूबता जा रहा था. चारों तरफ़ मंद-मंद बयार चल रही थी पर कोई संगी–साथी आसपास नज़र नहीं आ रहे थे. कहीं कोई ढोर ढंगर नहीं. केवल उसका झोपड़ा और दो तीन दूसरे झोपड़े बचे थे और ८-१० प्राणी बचे थे जिन्हें २-४ दिन में ये सब खाली करना था.

उसी दिन उसके साथी दीपला का लड़का बनवारी आया था वो बता रहा था, भुवन काका तुम भी वहां आ जाओ जहां हमने नया झोपड़ा बनाया है.

अच्छा! कैसा हे रे वहां? भुवन बड़ी दिलचस्पी से पूछने लगा. अरे काका वहां तो सरकार ने नया हैंडपंप भी खुदवा दिया है, नयी सड़क बनाने को गिट्टी पत्थर भी डलवा दिए हैं, माता मां का नया ओटला भी बनवा रहे हैं. शाम को अच्छी बस्ती हो जाती है वहां. और कोई बता रहा था कि वहां सब सुविधाएं मिलेंगी. पर... काका एक बात तो है.

भुवन ने बनवारी का चेहरा गौर से देखा जो उदास लगने लगा था. क्या बात हे रे बनवा ?

कुछ भर्राए गले से बनवारी बोला, काका वहां ज़रा भी अच्छा नहीं लगता. मेरे को १०-१२ दिन हो गये वहां रहते हुए पर यहां की बहुत याद आती है. वहां सड़क किनारे सुविधा में रहते हुए भी इस गांव की, अपने डूबे हुए झोपड़े की बहुत याद आती है. अगर सरकार सारे पैसे वापस ले ले और यहां बसने दे तो हम दौड़ते हुए आ जाएं.

बस यही तो धरती माता का पुण्य परताप है, भुवन बोला ये हमारी मां है और मां को हम कैसे भूल जाएं? यह बात पूरी करते-करते भुवन का स्वर धीमा हो गया था, आख़िर उसे भी दो-तीन दिनों में यहां से जाना ही है.

धनिया भी बनवारी से मिलकर बहुत ख़ुश हुआ, उसने बनवा को वहीं एक दिन के लिए रोक लिया.

रात को अचानक बढ़े जल स्तर ने ज़िले के अधिकारियों को चिंता में डाल दिया था, और परिणाम वही हुआ जिसका भुवन को डर था. दोपहर होते-होते ज़िला अधिकारी की एक ज़ीप, दूसरे अफ़सर की एक और ज़ीप और एक खाली ट्रैक्टर ट्राली, साथ में कुछ पुलिस वाले भी गांव में आ धमके, गांव क्या उस समुद्र जैसे फैले जल समूह के किनारे झोपड़े के पास. तीनों झोपड़े वालों को अल्टीमेटम दे दिया गया कि एक घंटे में सामान समेटो नहीं तो हम ट्रैक्टर ट्राली में भर कर सब सामान ले जायेंगे.

मज़बूरी थी, भुवन, रूपली और धनिया ने सामान बांधना शुरू किया. आंखों से गिरते आंसू और भर्राये गले से भुवन, रूपली और धनिया को सामान बांधने के लिए कहता जा रहा था. वैसे ग़रीब का सामान क्या सामान? फिर भी कुछ अनाज, कुछ कपड़े, कुछ बर्तन, पुराने बिस्तर, दो खटली आदि.

जब ये सामान ट्रैक्टर में रखा जा रहा था तब अफ़सर लोग सामने फैले पानी के विस्तार का विहंगम दृश्य देख रहे थे उन्हें सारा व्यू बहुत सुंदर और रोमांचकारी लग रहा था वे इस पूरे प्रलय के प्रॉज़ेक्ट को सफलता के नज़दीक पहुंचते देख प्रसन्न हो रहे थे. सर अगली बार पिकनिक के लिए यह स्पॉट बहुत अच्छा रहेगा. हां, गुप्ता हम तो बड़े साहब को एक शानदार पार्टी यहीं देंगे, वो भी मस्त हो जायेंगे यहां के नज़ारे देख देख के.

अफ़सर लोग पिकनिक का प्लान कर रहे थे लेकिन उनकी इस चर्चा में इन सारे नीड़ से बिछुड़े कितने ग़रीब लोगों के जीवन में आये तूफ़ान का कोई ज़िक्र नहीं था.

सारा सामान, रूपली और धनिया तथा बनवारी को ट्रैक्टर पर चढ़ा कर भुवन ने दोनों बकरियां भी ट्रैक्टर में चढ़ा दीं और गाय को खुद लेकर चलने की सोची. अधिकारी ने आदेश दिया, तुम गाय को लेकर आगे चलो हम लोग आ रहे हैं. भुवन गाय की रस्सी पकड़ कर चला. चलने से पहले पलट कर अपने झोपड़े की ओर देखा जो सामान से तो खाली हो चुका था लेकिन जहां भुवन की पिछली तीन पीढ़ियों ने अपना जीवन बिताया था. जहां भुवन के कितने ही सुख-दुःख भरे दिन गुज़रे थे और आज भी जिसके लिए भुवन का दिल धड़क रहा था.

जाते हुए ट्रैक्टर से रूपली और धनिया भी अपने से दूर जाते अपने राजमहल को देख रहे थे. तभी एक अधिकारी बोला, सर इस स्पीड से वाटर लेवल बढ़ा तो कल तक ये झोपड़ा भी पूरा डूब जायेगा.

इन शब्दों से भुवन का दिल सिहर गया. लेकिन मज़बूर भुवन गाय को लेकर चलता रहा, गांव के इस छोर

लघुकथा

देशप्रेम

✍ संतोष श्रीवास्तव

आतंकवादियों से लगातार चार दिन की मुठभेड़ के बाद मिली विजय की खुशियां सैनिक अपने शिविर में नाच गाकर मना रहे थे. लेकिन उनके पास रसद ख़त्म हो चुकी थी और उन तक आज रसद पहुंच भी पाएगी इसकी उम्मीद भी ख़त्म हो चुकी थी.

नाच गाने में खुद को थका कर वे सोने की कोशिश कर रहे थे लेकिन भूख की ज्वाला उन्हें चैन नहीं लेने दे रही थी. दूर-दूर तक कहीं किसी के होने की संभावना नहीं थी. आतंकवादियों के डर से गांव वाले भाग गये थे, गांव निर्जन था.

तभी उन्हें एक ज्योति सी जलती दिखाई दी. आकृति स्पष्ट हुई. एक प्रौढ़ महिला आठ-नौ साल के लड़के का हाथ पकड़े उन्हीं की ओर चली आ रही थी. प्रौढ़ा के हाथ में रोटी सब्ज़ी से भरी टोकरी थी और लड़के के हाथ में लालटेन. प्रौढ़ा ने टोकरी उनके सामने रखी — 'खा लो मेरे वीर भाइयों, इतनी लड़ाई लड़ी है जालिमों से, भूख लगी होगी.

जवान रोटियों पर टूट पड़े. प्रौढ़ा बहुत प्रेम से सैनिकों को रोटी खाते हुए देखती रही. खाने से तृप्त हो एक सैनिक से पूछा — 'अम्मा तुम कहां थी? कैसे पहुंची हम तक?'

'... बेटा, मेरे बहू बेटा आतंकवादियों ने मार डालें.किसी तरह मैं अपने पोते को लेकर खलिहान में छुप गयी चार दिन तक छुपी रही. जब गोलियों की आवाज़ शांत हुई, तब मैं समझ गयी कि तुम लोगों ने उनका काम तमाम कर दिया है.'

जवान देख रहे थे एक अनजान प्रौढ़ा को जिसके चूल्हे की आग ने न जाने किस प्रेरणा से जवानों के पेट की आग बुझाई थी. इस आग की लपटों की रोशनी में भारत देश जगमगा रहा था.

५०५, सुरेंद्र रेज़ीडेंसी, दाना पानी रेस्तरां के सामने, बावड़िया कला, भोपाल-४६२०३९.

तक तो गाय बड़े आराम से चली पर सड़क आते ही वो अड़ गयी. भुवन ख़ूब खींच रहा था पर गाय वापस झोपड़े की ओर जाने की कोशिश कर रही थी बड़ा ज़ोर लगाना पड़ रहा था भुवन को, गाय को आगे धकियाने के लिए और एक बार तो गाय पूरी ताकत से भुवन के हाथों से रस्सी छुड़ाते हुए वापस झोपड़े की ओर भागी. दो सिपाहियों ने दौड़ कर गाय की रस्सी पकड़ कर भुवन को सौंपी. तभी पीछे आती ज़ीप में बैठा अफ़सर कुछ रौबदार आवाज़ में बोला, ऐ भुवन चलो जल्दी चलो, अब उस झोपड़े का मोह छोड़ो नयी जगह की सोचो.

भुवन ने गाय को मुश्किल से ख़ींच कर आगे बढ़ाया. अब वह उस अधिकारी को कैसे बताये कि जब एक चार पांव का मूक जानवर भी अपने नीड़ को इतना पहचानता है, प्यार करता है और उसे छोड़ने में इतना दर्द महसूस करता है तो फिर वह तो आदमी है, वह कैसे उस जगह को भूल जाये? जहां उसके सुख-दुःख, उसके दिन रात, उसके संगी-साथी सब थे. जहां उसकी तीन-तीन पीढ़ियां... भुवन ने सोचना बंद किया क्योंकि सोचते-सोचते वो चल नहीं पा रहा था उसकी आंखें आंसुओं से भींगने लगी थीं.

उसने जी कड़ा कर, गाय की रस्सी खींची और सड़क की तरफ़ बढ़ने लगा.

२२४ सिल्वर हिल कॉलोनी,
धार-४५४००१. (म. प्र.).
मो. ९३४०१९८९७६
E-mail : Mahesh.k111555@gmail.com

सागर/सीपी

'कुछ होना होता है तो रास्ते अपने आप निकल आते हैं!'

डॉ. प्रवीण भारती

(गीतकार डॉ. मधु प्रसाद की साहित्यश्री डॉ. प्रवीण भारती से कथाबिंब के लिए अंतरंग वार्ता)

आपसे पहली भेंट ही मन पर गहरी छाप छोड़ गयी थी. वर्षों से आपके साथ कई मंच सांझा करने का भी सुयोग मिलता रहा. आपने बहुत लंबा सफ़र तय किया है. ज़ाहिर है, सफ़र आसान तो नहीं रहा होगा. न जीवन जीने का, न ही साहित्य का ! आप ज़रा मुड़कर पीछे देखें और स्मृतियों की संपुटिका खोलें.

मुझे भी तुमसे मिलकर बहुत अपनापन महसूस हुआ था, लगा ही नहीं कि पहली बार मिल रही हूं. अगर मैं भूल नहीं रही तो यह वर्षों पूर्व की बात है, तुम्हारी बेटी और बेटा भी साथ थे. शायद वह गुजरात विश्व विद्यालय का कोई कार्यक्रम था?

बिल्कुल ठीक दीदी, मैंने दोनों बच्चों को आपसे मिलवाया था. वे दोनों भी आपसे मिलकर बहुत खुश हुए थे.

आज मैं फिर से आपको आपके बचपन के द्वार पर ले जाकर खड़ा कर रही हूं.

तुमने आज जीवन के वो द्वार खटखटाए हैं जिन्हें उम्र के बढ़ने के साथ समय न जाने कब बंद कर देता है. अपना बालपन कोई भुला नहीं पाता, हम सब ताउम्र उससे जुड़े ही तो रहते हैं. तुम्हें यह जानकार आश्चर्य होगा कि मेरी मां ने ग्यारह बच्चों को जन्म दिया जिनमें से मैं आठवें नंबर की थी. किसी को, यहां तक कि मां की गायनोकोलोजिस्ट डॉ. शांता मल को भी भय था कि यह बच्चा बचेगा या... नहीं? उन दिनों वह एक छोटे शहर मुज़फ़्फ़रनगर (उ. प्रदेश) की इकलौती इंग्लैंड-रिटर्न डॉक्टर थीं.

लेकिन देखो न मधु, मनुष्य अपना प्रारब्ध लिखवाकर लाता है. आज उम्र के इस मुहाने पर खड़ी मैं उस विधाता को शत-शत नमन ही कर सकती हूं जिसने मुझे उम्र के पिछत्तर वर्ष की ड्योढ़ी तक लाकर खड़ा कर दिया है. शायद –प्रारब्ध!

तब तो आपका बचपन बहुत एकाकी रहा होगा ?

मैं बची-खुची बच्ची थी, किंतु मैंने कभी अकेलापन महसूस नहीं किया, शायद विधाता ने मुझे गढ़ा ही इस प्रकार था कि मुझे सब अपने लगते थे. वैसे, आज तक मैं अपने-आपको 'बची-खुची' ही कहती हूं लेकिन मुझे दस भाई-बहनों वाली ससुराल मिली और सारी कमी उन सबका स्नेह पाकर पूरी हो गयी.

आपके जीवन में ऐसा कुछ घटित हुआ जो संवेदनात्मक भी रहा और प्रेरक भी या बिल्कुल इसके विपरीत? ऐसी कोई घटना जो हृदय पर अंकित हो गयी हो?

घटनाएं ही भरी पड़ी हैं मधु, वैसे किसी का भी जीवन घटनाओं से विहीन तो होता नहीं है. एक स्मृति का द्वार खुलने पर न जाने कितनी पोटलें खुलकर उनमें से इतनी स्मृतियां बिखरने लगती हैं कि समेटना कठिन हो जाता है.

(हंसकर) माता-पिता दोनों का उच्च-शिक्षित होना कभी-कभी बच्चों के लिए बड़ा पीड़ादायी हो जाता है वो भी जिसमें बच्चा बेहद शैतान हो और उसे पढ़ाई काटने दौड़ती हो. जब बहुत छोटी थी तब मुज़फ़्फ़रनगर में एक मोंटेसरी स्कूल खुला था, उसमें प्रवेश दिला दिया गया. पापा को अपनी एकमात्र संतान को किसी स्तरीय शिक्षण-संस्थान में शिक्षा दिलवाने की इच्छा थी सो पापा के पास दिल्ली पब्लिक–स्कूल में फिर किशोरावस्था में कॉलेज़ तक मुज़फ़्फ़रनगर में! यानि ज़िंदगी इधर-उधर लुढ़कती रही.

लेखन में आपका रुझान कैसे हुआ?

घर में उस समय की लगभग सभी प्रमुख पत्रिकाएं आतीं. मैं और मां दोनों कहानी-क़िस्सों के चटोरे! शायद १२ वर्ष की उम्र होगी एक कागज़ पर न जाने किस शीर्षक से छोटा-सा लेख लिखकर 'धर्मयुग' के पते पर भेज दिया.

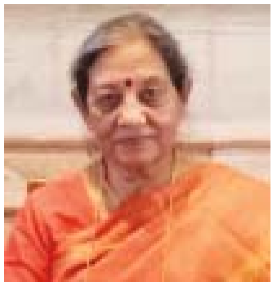

डॉ. प्रवीण भारती

डॉ. मधु प्रसाद

समझ सकती हो कितनी बुद्धि रही होगी. आश्चर्य यह कि वह छोटा-सा लेख छप गया. अम्मा मारे हर्ष के फूल उठीं. मुझे लगा, ग़लती से छप गया होगा.

हां, उन्हीं दिनों न जाने कैसे एक गीत बना जो थोड़ा सा याद है –कुछ ऐसा है;

बीता तब तू तब जाना है
तेरा गौरव प्यारे शैशव,
छा जाती चंद्र चमक जैसे
इस नील द्युति वाले नभ में
बस, एक बार ऐसे ही तू
आया था मम जीवन में
दिखा-दिखाकर खिलवाड़
हर लेता था सबके मन को
फिर मधुर लोरियां सुन-सुनकर
सोता था कहीं प्यारे शैशव !!

इस गीत को पढ़कर अम्मा की आंखों में आंसू छलक गये, मुझे तो समझ ही नहीं आया अम्मा रो क्यों पड़ीं? मैं छोटी-मोटी पत्रिकाओं में कुछ न कुछ भेजती रहती लेकिन कभी कुछ भी सहेजा ही नहीं.

किशोरावस्था का एक गीत और याद आता है, संभवत: सत्रह/अठारह वर्ष की थी, कॉलेज़ में पढ़ती थी;

तुम सपनों को सतरंगे रेशम से बुनतीं, मैं केवल रोटी के टुकड़ों में खोया था,

तुम उड़ती फिरतीं कोमल तितली-सी, मैं चूल्हे में आग जली देखा करता था....

आपकी किशोरावस्था की कोई विशेष घटना, यदि आपको याद हो तो.

जब मैं मुज़फ़्फ़रनगर में बी. ए. प्रथम वर्ष में थी उस समय मेरे एक मित्र थे, उम्र में काफ़ी बड़े लेकिन उनसे मेरी व मां की बहुत पटरी बैठती. न जाने कैसे, कहां उनसे मुलाकात हो गयी थी? देखने में बिलकुल साधारण शक्लो सूरत व व्यक्तित्व वाले छोटे से क़द के. उन मित्र का नाम सुखपाल था. जाट थे वे और जहां उन दिनों जाटों के लड़के अधिकतर पढ़ाई के बहाने शहर में लड़कियों को घूरने, छेड़ने आते, वहीं वे एक गंभीर लेखक, पाठक व व्यवसाय से वकील बंदे अपने समुदाय के लिए गर्व थे. जो बाक़ायदा कचहरी जाते और हम उन्हें वकील साहब कहते! उन्हीं के एक और वकील मित्र थे, नाम अब याद नहीं हैं, उनके घर बालकवि बैरागी जी आये और सुखपाल वर्मा यानि वकील साहब मुझे व अम्मा को उनके सम्मान में हुई छोटी-सी गोष्ठी में ले गये.

मैं जो कुछ भी थोड़ा–बहुत लिख पाती थी अम्मा व वकील साहब को ज़रूर सुना देती. कुछ दिनों पहले ही पता नहीं कैसे एक गीत लिखा गया था, बस वकील साहब पीछे पड़ गये कि उस गोष्ठी में मैं वह गीत पढ़ दूं.

बैरागी जी उस समय युवा थे किंतु उनकी बुलंद आवाज़ और ख़ूबसूरत प्रस्तुति के सामने मैं बहुत नर्वस थी. मां भी लिखती थीं और हार्मोनियम पर अपने गीत की तर्ज़ बना लेती थी. उस दिन मां ने अपना गीत पढ़ा;

जीवन एक पहेली सजनी
जितना सुलझाओ, वह उलझे
है रहस्यमय इतनी....

उनकी लिखी हुई कुछेक पंक्तियां ही मेरी स्मृति में शेष हैं. फिर मुझे कविता-पाठ के लिए कहा गया. सोचा भी नहीं था

कि मुझे भी ऐसा अवसर मिल सकता है. नए गीत के दो-एक मुखड़े याद थे उनमें से ही मैंने यह तरन्नुम में पढ़ दिया.

तुझे भूल कैसे जाऊं मैं, बता भूल कैसे जाऊं...?
याद अभी हैं वे दिन प्रियवर जो थे तेरे संग बिताए
प्रीतिबीन पर साथ-साथ थे मादक से कुछ गीत सुनाए
दोहराए 'वो' प्रश्न पुराने, ओ तेरा अभिनंदन साथी...!

उपरोक्त प्रस्तुति की काफ़ी प्रशंसा बटोरी मैंने. किशोरावस्था में डैने भी ज़रा जल्दी खुलने लगते हैं. मुखर तो पहले से ही थी, गाकर पढ़ी, रियाज़ काम आ गया. सबको पसंद आयी, खुशी से फूलकर कुप्पा हो गयी.

मेरे कत्थक नृत्य के मास्टरजी श्री शिवानंद जी और संगीत के गुरू पंडित रमाशंकर जी मुझसे बहुत परेशान रहते. पर क्या करूं, मैं थी ही ऐसी ! आवाज़ मां शारदे की कृपा से भली-चंगी थी और उसका समुचित उपयोग न करना मेरा निकम्मापन !

पापा मिनिस्ट्री ऑफ़ कॉमर्स में थे उन दिनों, बहुधा दिल्ली रहते. फिर डिग्री कॉलेज़ के प्रिंसिपल भी रहे किंतु भ्रमण में रहना, वेदों पर व्याख्यान देने देश-विदेश में जाते रहना, उनका शगल था. ठीक है, मैं बेटी थी, लाड़ों पली लेकिन मुझे पढ़ाई व किसी भी अनुशासन में कभी छूट नहीं मिली. और मैं ठहरी एक अलग ही किस्म की प्राणी! उन दिनों गुलशन नंदा के ज़माने थे, पाठ्य पुस्तकों में रखकर उन्हें पढ़ा जाता. हम होनहार बिरवान द्वितीय श्रेणी पर ही मस्त रहे. यह कोई न सोचता कि उनकी एकलौती बिटिया इतनी भी फन्नेखां नहीं थी कि कभी अंग्रेज़ी माध्यम, कभी हिंदी माध्यम में उसे खींचते रहें और वह खिंचते हुए 'टॉप क्लास' लाती रहे. आज का तो समय बहुत बदल ही चुका है लेकिन उन दिनों भी शिक्षित परिवारों में अपेक्षाएं कुछ कम न होतीं बच्चों से ! सो, मां-पापा के लिए मैं 'ठीक सी' ही रही. हां, मेरे साथ मेरी नानी थीं जो परीक्षा-परिणाम आते ही पूरे मुहल्ले में लड्डू बंटवा देतीं. वो भी अपने समय की आठवीं पास थी. मां का एकमात्र संतान होना और मां के मेरा एकमात्र संतान होना, नानी को हम लोगों से सदा जोड़े रहा.

आपका विवाह कब हुआ दीदी? क्या उसके पीछे भी कोई रोचक संस्मरण है ?

बिल्कुल है मधु, मेरे जैसी चंचल और मुखर लड़की के साथ कुछ जुड़ा न हो, कैसे हो सकता है? मैं जब चौदह वर्ष की थी तब दसवीं की परीक्षा देकर छुट्टियों मैं अपने ममेरे मामा के यहां मां के साथ आगरा गयी थी.

मामा जी की कोठी के ठीक सामने पंडित भोगीलाल जी की विशाल कोठी थी, वे आगरा के माने हुए ज्योतिषी थे. मां की मटरमाला का खोना और हमारा मामा जी के साथ उनके पास जाना, संभवत: दैवयोग ही था.

प्रश्नों का समाधान पाने वाले लोगों की भीड़ में से हमारी बारी से पहले ही हमें बुलवा लिया गया था. उंगलियों पर कुछ गणना करके ज्योतिषी जी ने बताया कि अम्मा की मटरमाला कुछ दिनों में मिल जाएगी. हम दक्षिणा देकर आशान्वित होकर लौट आये. कुछ दिनों बाद वापिस मुज़फ़्फ़रनगर आ गये. मटरमाला तो नहीं मिली हां, जयमाला ज़रूर मिल गयी.

आगरा में पंडित जी की कोठी में एक शर्मा परिवार किराए पर रहता था, उन दिनों शर्मा जी आगरा में ही थे. उनके साले भी देहरादून से उनके पास आए हुए थे. वहीं उन्होंने मुझे देखा. मामा जी के बच्चे लॉन में बैडमिंटन खेलते थे, मैं भी उनके साथ खेलती थी. बस, मित्रता हो गयी. शर्मा जी के साले व पंडित भोगीलाल जी के बेटे रमेश जो उस समय मेडिकल में पढ़ रहे थे, दोनों की अच्छी मित्रता थी. उनके पास एक बहुत सुंदर तांगा था जिस पर सवार होकर शाम को दोनों मित्र तांगे वाले के साथ रोज़ ही झक्क कपड़ों में रईसज़ादों की तरह घूमने जाते. वो एक ज़बर्दस्त आकर्षण था. मैं मामा जी के बच्चों के साथ दूर से ही तांगे को देखती. बड़ा शानदार तांगा था, आकर्षित करता. कुछ दिनों में अम्मा और मैं लौटकर मुज़फ़्फ़रनगर आ गये. तब पता चला कि आगरा में जो शर्मा परिवार था, वह मूल रूप से मुज़फ़्फ़रनगर का था.

देहरादून में ओ. एन. जी. सी. का मुख्य कार्यालय था. उसी विभाग में शर्मा जी के साले की नौकरी लग चुकी थी. युवक व परिवार अच्छा था, जाति-बिरादरी की भी कोई समस्या नहीं थी लेकिन एक तो हम दोनों की उम्र में दस वर्षों का अंतर था, दूसरे उनके परिवार में दस भाई-बहन थे, तीसरा –वे पांच भाई थे, उनका नं बीच में था और दो बड़े अभी अविवाहित थे. नानी को मेरा रिश्ता करके शादी इतनी लंबी रोकनी नहीं थी और उनके दो भाई बीच में थे. बड़ा परिवार होने के कारण नानी को लगता उनकी धेवती रात-

दिन चूल्हे–चक्की में पिसती रहेगी.

हम दोनों पहली बार में ही एक-दूसरे को पसंद कर चुके थे सो शादी पक्की कर दी गयी. तब ये गुजरात जा चुके थे और भावनगर में थे बाद में अहमदाबाद आये.

हम एक-दूसरे को पत्र लिखते, अम्मा जानती थीं लेकिन नानी से छिपकर! यह तो शादी के बाद में पोल खुली कि ये अपने दोस्त के साथ रेलवे-स्टेशन पर जाकर पुरानी शेरोशायरी की क़िताबें खरीदकर लाते जिसमें से टीपकर शायराना अंदाज़ में ख़त लिखे जाते. मैं फूली न समाती कि कितना रोमेंटिक बंदा है!

(प्रणव दीदी अपने स्वभाव के अनुसार खुलकर हंस पड़ीं.)

आपका विवाह कितनी उम्र में हुआ दीदी ?

बीस वर्ष की उम्र में मेरा विवाह हो गया, उस समय मैं एम. ए. अंग्रेज़ी के प्रथम वर्ष में एस. डी. डिग्री कॉलेज मुज़फ़्फ़रनगर में प्रवेश ले चुकी थी. उन दिनों मेरा एक उपन्यास 'मोती जो बिखर गए' के शीर्षक से शुरू हो चुका था जिसे मैंने शादी के बाद अहमदाबाद आकर पूरा किया लेकिन वह प्रकाशक के पास से ही गुम हो गया, कभी प्रकाशित ही नहीं हो पाया. प्रकाशक का काफ़ी बड़ा नाम है, मेरे पास कोई प्रमाण नहीं अत: कुछ नहीं कह सकती. इस बात को पचास वर्ष से ऊपर का समय हो चुका हैं. उपन्यास भी इतना गहन तो नहीं ही रहा होगा लेकिन उसके खो जाने ने मुझे पीड़ित किया.

विवाह के बाद देहरादून आयी जहां मेरे उन नंदोई ने मेरे हाथ में एक 'नोटबुक' जैसी कुछ कॉपी-सी थमा दी जो मेरा रिश्ता लेकर आये थे. मैंने भौंचक होकर उनकी ओर देखा;

'देखो तो खोलकर –'उन्होंने मुझे स्नेहपूर्वक कहा—

कमाल था ! मेरे हाथ में उन सभी पत्र-पत्रिकाओं से ली गयीं छोटी-मोटी कटिंग्स थीं जिन्हें एक साधारण-सी छोटी डायरी में चिपका दिया गया था जो मैंने लिखी ज़रूर थीं लेकिन मेरे पास वो थीं ही नहीं. मेरे लिए वह पुस्तिका एक ख़ज़ाने से कम न थी. विवाह से पूर्व वे मुज़फ़्फ़रनगर में मेरे कॉलेज़ के हर कार्यक्रम में उपस्थित रहते थे.

हमारे शहर में बहुत कम परिवारों में लड़कियों को इतनी स्वतंत्रता मिलती थी जितनी मुझे मिली थी. मां-पापा का उच्च शिक्षित होना, पापा शास्त्री, तीन विषयों में पीएच. डी., डी. लिट. व हिंदु बनारस विश्वविद्यालय से स्वर्ण-पदक प्राप्त थे. मां ग्रेजुएट व शास्त्री थीं जो अंग्रेज़ों के ज़माने में हिंदू-बनारस विश्वविद्यालय में अपने गुरू व सहपाठियों के साथ शास्त्री की परीक्षा देने बनारस गयी थीं. कुल मिलाकर मुझे बहुत स्वतंत्रता मिली थी और मेरे कॉलेज़ के सभी मित्र मेरी मां के भी मित्र बन जाते थे.

बड़ी रुचिकर रही आपकी विवाह की बात दी ! अपनी किशोरावस्था में ही आपको बैरागी जी जैसे कवियों का सानिध्य प्राप्त हुआ था. बाद में भी आपको अपनी यात्रा में अनेकों प्रसिद्ध, वरिष्ठ, विशिष्ट व्यक्तियों का सानिध्य प्राप्त हुआ,कोई विशेष रचनाकार,या रचना?

मैं अपने शिक्षकों की बहुत लाड़ली थी, शैतान बहुत थी, मुखर थी और सबसे बड़ी बात –न जाने क्यों मेरे सहपाठी तो मेरी बात मान ही लेते थे अपनी ऐसी मित्रों के घर से भी मैं उन्हें छूट दिलवा लाती थी जिनके परिवार बड़े दकियानूसी होते थे और वे कॉलेज के समारोहों में भाग ले पातीं थीं.

जहां बचपन में पढ़ाई को गंभीरता से न लेती वहीं बड़े होते मैं काफ़ी गंभीर हो गयी. घर का वातावरण आर्य-समाजी था, कोई अंधविश्वास नहीं किंतु उसमें भी ऐसा कुछ देखती जो मन में क्रांति पैदा कर देता. तब बड़ी दुखी हो जाती थी. यह सब अब मेरे उपन्यासों में आ रहा है.

स्वामी विवेकानंद से मैं बहुत प्रभावित थी, उस समय मैं उन्हें अंग्रेज़ी में पढ़ रही थी. प्रोफ़ेसर रुद्र प्रकाश मिश्र मेरे घर से कॉलेज जाने के रास्ते में रहते थे. मेरे मन की उलझनों की गांठ खोलने में उन्होंने मेरा बहुत मार्ग-दर्शन किया. मेरा आध्यात्म की ओर झुकाव मेरे मां-पापा के अतिरिक्त प्रो. मिश्र को जाता है.

कोई और रुचिकर स्मृति मन के द्वार पर टहल रही हो, उसे सांझा करिए.

हमारे शहर में प्रति वर्ष नुमाइश लगती जिसमें एक कवि-सम्मेलन ज़रूर होता. मैं और मां बेहद उत्साहित रहते. मुझे अच्छी तरह याद है कि हम युवा लड़कियों को बीच में घेरकर राजवाहे की पटरी से ले जाया जाता था. उस समय हम नीरज जी, भारत भूषण जी, काका हाथरसी जी आदि कवियों को सुनने जाते और अंत तक इसलिए रुकने के लिए मचलते कि हमें अपनी ऑटोग्राफ़ बुक में उनसे कुछ

लिखवाना होता.

विवाह के बाद एक लंबे अंतराल ने मुझे उदासीन बना दिया. बच्चों के बड़े होने पर विवाह के तेरह/चौदह वर्षों बाद अम्मा जी (सास) के निधन के बाद घर भी सूना लगने लगा था. मैंने गुजरात विद्यापीठ से हिंदी में एम. ए. करने के बाद एम. फ़िल., पीएच. डी. किया.

विद्यापीठ के पास ही आकाशवाणी है, अहमदाबाद दूरदर्शन का कामकाज तब तक इसरो के प्रांगण से ही चलता. मैं एक बार दिल्ली में शुरुआती दिनों में दूरदर्शन की उद्घोषिका के रूप में चुन ली गयी थी किंतु अम्मा के बिना वहां अकेले रहने की इजाज़त नहीं मिली. उसी समय सुश्री मुक्ता श्रीवास्तव भी उद्घोषिका के रूप में चुनी गयी थीं. मैं जब भी उन्हें देखती, उदास हो जाती. इतने वर्षों बाद यहां अहिंदी क्षेत्र में दूरदर्शन के कार्यक्रमों में भी थोड़ी-बहुत शिरकत होने लगी.

एक बार आकाशवाणी में डॉ. किशोर काबरा से मुलाक़ात हुई. मेरे पति साथ थे. उन्होंने उनसे कहा कि मैं कभी-कभी बहुत उदास हो जाती हूं.

'बहन के उदर में प्रसव वेदना होती है, जब तक प्रसव हो न जाए ये पीड़ित रहेंगी, इन्हें लेखन की ओर अग्रसर करिए.'

डॉ. काबरा ने बहुत सहजता से मुस्कुराकर कहा था. तभी उन्होंने मुझे अहमदाबाद की प्रथम काव्य-संस्था 'साहित्यलोक' से परिचित करवाया. उस समय उस संस्था में केवल ७/८ सदस्य थे. श्री रामचेत वर्मा जी उसके संस्थापक थे जो युवावस्था में ही इस नश्वर संसार को छोड़ गये. इस संस्था से अनेकों गीतकार, ग़ज़लकार बनकर निकले हैं. संस्था आज तक एक परिवार की भांति कार्यशील हैं. तुम भी तो उसकी महत्वपूर्ण इकाई हो.

जी दीदी, साहित्यलोक वास्तव में एक परिवार ही है, अपनत्व से भरा हुआ. उन दिनों आपकी और किस-किस से भेंट हो सकी दीदी ?

बैरागी जी, विष्णु प्रभाकर जी, निदा फ़ाज़ली जी, डॉ. कुंवर बेचैन, अशोक चक्रधर जी, गोविंद मिश्र जी, मदन मोहन मनुज जी, आकाशवाणी के निदेशक होकर आये थे, डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र, कानपुर के कई प्रसिद्ध कवि, कवयित्रियों जिनमें माधवी लता जी भी थीं. बहुत से वरिष्ठ साहित्यकारों के संपर्क में आती चली गयी. बैरागी जी जब भी अहमदाबाद आते, मुझे पहले से ही सूचित कर देते. दूरदर्शन पर मैंने उनका साक्षात्कार लिया. उस समय सुश्री हसीना कादरी दूरदर्शन का हिंदी विभाग देख रही थीं. जब कभी ज़रूरत पड़ी उन्होंने हमेशा बड़ी प्रसन्नता व स्नेह से मेरा साथ दिया. यहां तक कि एक बार कलकत्ता से पधारे साहित्यकार श्री नथमल केडिया जी का साक्षात्कार मेरे घर के लॉन में ही लेने पूरी टीम के साथ वे घर पर ही आ गयीं क्योंकि स्टूडियो खाली नहीं मिल रहा था. उन्हीं दिनों प्रसिद्ध गिटारिस्ट पंडित बृजभूषण काबरा जी के साक्षात्कार की आकाशवाणी के लिए एक सीरीज़ तैयार की जो आकाशवाणी, दिल्ली केंद्र से प्रसारित हुई.

नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ़ डिज़ाइन (एन.आई.डी.), भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो), भारतीय प्रबंधन संस्थान (आई. आई. एम.) और अंत में 'सिटीप्लस फ़िल्म एंड टेलीविज़न इंस्टीट्यूट' गांधीनगर आदि प्रमुख हैं जहां मैंने अपनी सेवाएं दीं. वहां पर सभी साहित्यकारों व कलाकारों का आवागमन रहता था. इसलिए पंडित जसराज जी, पंडित भीमसेन जोशी जी, शुभा मुद्गल आदि कलाकारों को सुनने का और उनके साथ कुछ क्षण बिताने का भी लाभ मिलता रहा. यहीं पर निदा फ़ाज़ली साहब के साथ लंच पर बहुत-सी बातें साझा करने का अवसर प्राप्त हुआ.

आपने साहित्य की अनेक विधाओं में अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त किया है गीत, ग़ज़ल, दोहे, हाइकु, कहानी और अब उपन्यास लेखन में आप व्यस्त हैं. आपको सर्वाधिक आत्मसंतोष और आनंद किस विधा में अधिक मिला है?

मेरा अनुभव तो यही रहा कि नवांकुर दो-चार पंक्तियों से फूटते हैं फिर उनको कैसी और कितनी मात्रा में खाद-पानी मिलते हैं, उसी के अनुसार उनका क़द, स्वास्थ्य बढ़ता जाता है. मेरे साथ तो ऐसा ही हुआ जैसा मैंने तुम्हें बताया भी है. थोड़ा बहुत लिखना बचपन से शुरू हो चुका था किंतु लगभग पंद्रह वर्ष के अंतराल में सब कुछ रुकने लगा था. हां, थोड़ा बहुत गद्य–पद्य चलता रहा किंतु ऐसा कुछ नहीं था जो मुझे अधिक प्रोत्साहित करता. दिल्ली प्रेस

में लगातार छपती रही. उपन्यास के लिए परेश जी (दिल्ली प्रेस के अधिपति) ने एक विषय दिया था जिस पर सत्रह अध्यायों में 'महायोग' शीर्षक का उपन्यास प्रकाशित हुआ. एक बार 'इग्लैंड' में 'लैमिंगटन स्पा' के एक पुस्तकालय में मुझे पत्रिकाएं पलटते हुए देखकर मेरी तस्वीर दिखाकर वहां की कैनेडियन पुस्तकालयाध्यक्ष ने मुझसे पूछा था; 'इज़ इट यू?' मैं जानती थी उस इलाके में हिंदीभाषी निवासी गिने-चुने थे लेकिन वहां हिंदी की पत्रिकाएं देखकर मैं आनंदित व गर्वित हो उठी थी.

पीएच. डी. करते ही राष्ट्रीय डिज़ाइन संस्थान से मेरे पास एक अनुवाद का काम आया जो नेहरू जी की 'डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया' मुंबई की प्रदर्शनी का हिस्सा था. इससे पूर्व मुझे असाग (AHMEDABAD STUDY ACTION GROUP) नामक संस्था में 'को-ऑर्डिनेटर' के रूप में बुला लिया गया था. यह एक ग़ैर-सरकारी संस्था थी इसलिए मुझे अनुवाद का काम साथ करने में कोई परेशानी नहीं हुई. उसे पूरा करने के बाद मुझे संस्थान से फ़ोन आया कि मेरा अनुवाद काफ़ी पसंद किया गया है. स्वाभाविक था, मेरा खोया हुआ आत्मविश्वास फिर से यकायक जागने लगा.

कुछ दिनों बाद संस्थान से फ़ोन पर ही पूछा गया; 'वुड यू लाइक तो जोयन एनआईडी?' मेरे लिए सुखद आश्चर्य था. जिस संस्थान में प्रवेश मिलना भी एक सपना होता है, उसमें फ़ोन पर मेरी सेवाएं लेने के लिए मुझे आमंत्रित किया गया था. मैं आश्चर्यचकित लेकिन गर्वित महसूस कर रही थी. हिंदी अधिकारी के रूप में मुझे वहां अपनी सेवाएं देने का अवसर प्राप्त हुआ, मेरी 'एडहॉक' नियुक्ति थी. बच्चों को पढ़ाती भी थी, कार्यक्रम करवाती थी, कुछ वर्षों में बहुत से अनुभव मिले. छात्र/छात्राओं का छोटी एनीमेशन फ़िल्में बनाना, मुझसे संवाद में सहायता लेना और अनजाने ही मुझे बहुत कुछ सिखा देना. फ़िल्म व ग़ैर फ़िल्मी कलाकारों का आना-जाना लगातार चलता रहता था.

इस समय गीत, कहानी, उपन्यास लेखन की ओर मुड़ चुकी थी. जब विद्यापीठ में थी उस समय आ. रहमत अमरोहवी साहब मुझसे ग़ज़ल लिखने को कहते, मैंने कुछ लिखीं भी किंतु जब तक वो उन्हें देखकर 'ओ.के.' न कर देते मैं किसी मंच पर उन्हें प्रस्तुत न करती. हां, गीत उन दिनों काफ़ी लिखे गये. छुटपुट दोहे, मुक्तक आदि भी चलते रहे. बाद में अछांदस रचनाएं काफ़ी लिखी गयीं. कहानियों से मैं किशोरावस्था से ही जुड़ी हुई थी, उपन्यास में मैं पूरी तरह कब उतर गयी, मुझे भी पता नहीं चला. अनेक व्यवधानों के बीच भी निरंतर चलते रहे उपन्यास! अब तो महसूस होता है कि उपन्यास ही मेरी वास्तविक पहचान है शायद !

आजकल गीत/नवगीत पर बहुत चर्चा हो रही है, सबके विचार हैं, सबकी अपनी अभिव्यक्ति हैं. आप क्या कहना चाहेंगी क्योंकि आप स्वयं एक सिद्धहस्त गीतकार भी हैं.

मधु, हमारी पीढ़ी ने बहुत बदलाव देखे हैं. हम जिस तबके से जुड़े रहे वह सबका सम्मान करता था. मैं महाप्राण निराला जी से लेकर केदारनाथ अग्रवाल जी, अज्ञेय जी, वीरेंद्र मिश्र जी, रामदरश मिश्र जी आदि कई नवगीत के हस्ताक्षरों को पढ़ती व अवसर मिलने पर सुनती भी रही. नवगीत की नव विधा, नयी सोच ने मुझ पर प्रभाव भी डाला, लगा यही प्रगतिवाद का वास्तविक स्वरूप है जिसमें जटिल कथ्य को भी सरल रूप में सहजता से प्रस्तुत किया जा सकता है, समसामयिक समस्याओं को सरल रूप में प्रस्तुत करने की पूरी गुंजाइश है इसमें! लेकिन मैं नव-गीत की ओर चल नहीं पायी. मेरे गीत सहज रूप से लिखे गये या ये कहें कि मुझमें इसकी काबलियत नहीं थी. इसलिए मैंने पढ़ा सबको, सबका सम्मान भी किया लेकिन मेरा रुख़ उधर मुड़ गया हो, ऐसा नहीं हो पाया.

देखा जाये तो सभी विधाओं में संरचनात्मक भिन्नता होते हुए भी समानता मिलती है. रचना प्रक्रिया की दृष्टि से उसमें स्वाभाविक अंतर आ ही जाता है. हम सब परिचित हैं कि पिछले कई दशकों में नवगीत ने अनेक रचनात्मक मूल्य स्थापित किये हैं. नव लय, नव ताल, नव छंद, नव रचनात्मकता से सजे ये गीत मन के द्वार को खटखटाते रहे हैं किंतु मैं अपनी उसी राह पर चलती रही जो स्वाभाविक रूप से मुझे ले चली. कभी इस बारे में गंभीर नहीं हो पायी.

पिछले कुछ वर्षों में अनायास लिखे गीतों को देखकर किसी ने उनमें 'नवगीत' के गुण भी तलाश लिये और मुझे नवगीत लेखन के लिए कुछ बड़े हस्ताक्षरों ने प्रेरित भी किया लेकिन ईमानदारी से कहूं तो मैं वही लिखती रही जो

मेरे मनोमस्तिष्क ने मुझसे लिखवाया. हां, स्क्रिप्ट-लेखन की बात अलग रही क्योंकि वहां मैं किसी के लिए काम कर रही थी, मुझे वहां से पैसा मिल रहा था.

आपके उपन्यास 'गवाक्ष' को उत्तर प्रदेश संस्थान का प्रेमचंद नामित सम्मान से नवाज़ा गया है, इस उपन्यास की प्रेरणा?

मैं इसके लिए स्व. आई. एस. माथुर के प्रति कृतज्ञ हूं. मैंने उनके साथ राष्ट्रीय डिज़ाइन संस्थान, अहमदाबाद में काफ़ी काम किया, कई एनीमेशन फ़िल्मों की स्क्रिप्ट्स लिखी थी. वे संस्थान के एनिमेशन विभाग के विभागाध्यक्ष थे. उनका और मेरा साथ कई बार टूटा, कई बार जुड़ा. एनीमेशन संस्थान के निदेशक होकर वे हैदराबाद चले गये थे. अपनी परिस्थितिवश वे पुन: अहमदाबाद आए जहां मैंने उनके साथ 'सिटीप्लस फ़िल्म एंड टेलीविज़न इंस्टीट्यूट' में काम किया जो गांधीनगर, गुजरात में स्थित है. हम दोनों अहमदाबाद से इंस्टीट्यूट गाड़ी से जाते. हमारा सफ़र लगभग पचास मिनिट का होता. उस बीच हमारे बीच एक फ़िल्म बनाने की योजना पर काफ़ी चिंतन हुआ जिसका बीज उनके स्व. पिता के द्वारा स्वप्न में रोपा गया था. वे उसे फ़िल्म के रूप में लाना चाहते थे और चाहते थे कि उसके गीत व संवाद मैं लिखूं. हमने काफ़ी तैयारी कर ली थी, फ़िल्म की रूपरेखा तैयार हो चुकी थी. सब कुछ तैयार होने के बाद हम केवल चार बार उस प्रोज़ेक्ट पर पूरी यूनिट के साथ चर्चा कर सके और उनका देहांत हो गया. उनके बाद 'गवाक्ष' उनको श्रद्धांजलि के रूप में समर्पित की मैंने. यह वैसे तो एक 'फ़िक्शन' है किंतु इसमें प्रत्येक संवाद में आध्यात्म दिखाई देता है. अब इसका दूसरा संस्करण आ गया है जो अमेज़ोन व फ्लिपकार्ड आदि पर प्राप्य है.

आपके उपन्यास, कहानी-संग्रह, 'शीडार्लिंग' आदि में समाज की विषमताएं, विद्रुप परिस्थितियां और कुछ व्यक्तिगत टच लिये पढ़ने को बाध्य करती हैं, आपके गीत भी मनमोहक होते हैं. उपन्यास लेखन की ओर जाने का कोई विशेष आकर्षण या कारण?

हम सदा अपने अथवा अपने से जुड़े या फिर अपने चारों ओर से ही तो विषय उठाते हैं. घटनाएं बाध्य करती हैं, हम कुछ कहते नहीं, हमसे कहलवाया जाता है. शायद इसीलिए साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया हो. मुझे सदा लगता रहा मधु कि मेरे पास कहने के लिए इतना है कि वह थोड़े में नहीं समा सकता. इसीलिए मेरा रुझान कविता से कहानी, संस्मरण, लेख, उपन्यास की ओर होता गया होगा. सोच-विचारकर किया गया कुछ भी नहीं है. बस, समय ने जिधर मोड़ा, क़लम मुड़ती गयी.

पारिवारिक उत्तरदायित्वों का निर्वहन ! शैक्षणिक संस्थानों में उपस्थिति, नाटक, शीर्षक-गीत, संवाद लेखन, नृत्य-नाटिकाएं, आकाशवाणी, दूरदर्शन, साक्षात्कार, चर्चा, पत्र-पत्रिकाओं में नियमित लेखन, हिंदी में अनुवाद भी किया आपने, इतना सब कैसे करती रहीं? कोई अवरोध, गतिरोध?

लेखन स्वतः ही भीतर से प्रस्फुटित होता है. हम स्त्रियों के पास 'अपने समय' के नाम पर तो कुछ होता ही कहां है? कुछ स्वाभाविक अवरोध होते ही रहते हैं. मेरे पास पूरी स्वतंत्रता थी तो उत्तरदायित्व भी थे लेकिन मुझे लगता है कि यदि कुछ होना होता है तो रास्ते अपने आप निकल आते हैं. मेरी कुछ ऐसी पद्य रचनाएं अपने पति को खाना खिलाते, रोटी सेकते बनी हैं जिन्हें काफ़ी सराहना मिली है.

प्रणवदी, आपने अनुवाद का क्षेत्र भी नहीं छोड़ा, बच्चों के ७० बालगीतों का गुजराती से हिंदी में अनुवाद किया है. आपने गुजराती में प्रशिक्षण लिया है अथवा यहां की पावन मिट्टी ने आपको प्रशिक्षित कर दिया?

ऐसा कोई विशेष प्रशिक्षण तो नहीं लिया. शादी के समय मैं अंग्रेज़ी साहित्य में एम. ए. कर रही थी. तब तक सीमेस्टर सिस्टम शुरू हो गया था और जहां आगरा विश्वविद्यालय से बी. ए. की डिग्री मिली वहीं एम. ए. मेरठ विश्वविद्यालय से करना हुआ क्योंकि मेरठ विश्वविद्यालय की स्थापना हो चुकी थी और हमारा शहर उसी के अंतर्गत आता था. मेरे दो सीमेस्टर मेरे दोनों बच्चों के जन्म के बाद हो सके.

चौदह वर्ष पश्चात जब फिर से शिक्षा ग्रहण करने का विचार आया, गुजरात विद्यापीठ में हिंदी एम. ए. में प्रवेश लिया. वह घर के पास था. मेरे पति का स्थानांतरण 'ऑफ़शोर' योजना में हो गया था. गुजरात विद्यापीठ के हिंदी एम. ए. के पाठ्यक्रम में एक पेपर अनुवाद का भी था. गुजराती से हिंदी में और हिंदी से गुजराती में ! मैं वास्तव में बहुत डरी

हुई थी, हिंदी से गुजराती में अनुवाद तो मेरे लिए नामुमकिन ही था. पता नहीं, कैसे कर पायी और मेरी प्रथम श्रेणी आयी, जिसके कारण मुझे यू.ज़ी.सी. की शिक्षावृत्ति भी मिल गयी.

पीएच. डी. करते समय कई अवसर ऐसे आए जहां मुझे अनुवाद जैसे जटिल कार्य से जूझना पड़ा. मां शारदे की अनुकंपा रही और दिक्कतें आने के बावजूद काम चलता रहा.

कई पुस्तकों का अनुवाद भी किया. अपनी अभिन्न मित्र मंजु महिमा के माध्यम से मैं 'एज्यूकेशन इनिशिएटिव्ज़' संस्था से जुड़ी, वहां हिंदी का काफ़ी काम किया, वहीं से यह बच्चों की कविताओं का प्रोज़ेक्ट मेरे पास आया. उन गीतों पर छोटी- छोटी फ़िल्में भी बनीं.

'नैनंछिंदंति शस्त्राणि' कैसे उपजा?

'नैनंछिंदंति शस्त्राणि' मेरे सीरियल 'अब झाबुआ जाग उठा' का प्रतिफल है. इसको मैंने झाबुआ जाकर आदिवासियों के बीच जिया. इसके ६८-७०एपीसोड्स भोपाल से प्रसारित हुए. इसके लिए कई शोधार्थियों की एक टीम बनायी गयी थी जो मुझे बहुत सा मैटर मुहैया कराते रहते थे. मेरे सीरियल के निदेशक श्री अशोक कामले थे उनके इसरार पर मैं दो बार अलीराजपुर व झाबुआ गयी. वहां के लोगों से चर्चा की, उनके रहन-सहन से वाकिफ़ हुई तब सीरियल लिखा गया. उन्हीं दिनों मेरे शहर मुज़फ़्फ़रनगर में एक दर्दनाक घटना का होना मेरे लिए बहुत पीड़ादायक हो गया और मन प्रश्नों से भर उठा कि आख़िर मानवता का ह्रास क्यों होता जा रहा है? आदिवासी को ताड़ी का लालच देकर उनसे मारकाट करवाने जैसा घिनौना काम लिया जाता है लेकिन मेरे शहर में न तो इतनी ग़रीबी थी, न ही इतनी अशिक्षा! बल्कि अब तक तो लोग काफ़ी धनाढ्य हो चुके थे फिर ये कैसी नासमझी थी कि आदिवासी प्रदेश जैसी घटनाएं वहां कैसे और क्यों हो रही थीं? बहुत से प्रश्नों ने मनोमस्तिष्क को उलझाए रखा. कई वर्षों बाद यह उपन्यास जन्मा जिसमें वास्तव में दो कहानियां साथ चल पड़ीं.

कोरोना काल की क्या उपलब्धियां रहीं? आज कल आप क्या लिख रही हैं?

यूं तो यह समय सबके लिए मानसिक व शारीरिक त्रास का समय है. तुम खुद इस पीड़ा से गुज़री हो. मुझे लगता है कि हम जैसे लोगों को इसने बहुत कुछ सिखाया भी है और दिया भी है. मैं अपने शारीरिक कष्ट के कारण अब अधिक बाहर जाने से कतराती हूं. अब थकान होने लगी है किंतु जुड़ी रहती हूं पुराने मित्रों, संस्थानों से. इस समय मेरे तीन लघु उपन्यास 'बेगम पुल की बेगम उर्फ़', 'सलाख़ों से झांकते चेहरे', 'न, किसी से कम नहीं ट्रेंडी', एक कविता संग्रह 'तुम्हारे बाद' इसके अतिरिक्त कई कहानियां, बच्चों के लिए 'दानी की कहानी', कविताएं, मेरा वर्षों पुराने शीर्षक का रविवारीय लेख 'उजाले की ओर' जो पहले 'गुजरात वैभव' अख़बार में आता था. यह अख़बार दिल्ली, अहमदाबाद व राजस्थान में दो स्थानों से प्रकाशित होता है, यह सब लगातार लिखा गया. अब डिज़िटल रूप में सभी रचनाएं 'मातृ भारती' पटल पर प्रकाशित हो रही हैं.

दो उपन्यासों की रूपरेखा तैयार है, एक समाप्ति की ओर है लेकिन आजकल मन बहुत उदास होने के कारण लेखन में विघ्न है.

आपकी अब तक कितनी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकीं दीदी ?

प्रिंटिंग व ई-बुक्स मिलकर लगभग बीस से अधिक हो गयी होंगी. कई संकलनों में रचनाएं आयी हैं.

आज की युवा पीढ़ी आशाओं, आकांक्षाओं, अभिलाषाओं की दौड़ में सक्रिय है पर संस्कृति एवं परंपराओं के प्रति उदासीन! कंप्यूटर ने जैसे सारी संवेदनशीलता का हरण कर लिया है. आधुनिकता की इस दौड़ में हम आगे बढ़ रहे हैं या कहीं अपनी सभ्यता, परिवार आदि से दूर हो रहे हैं. माहौल में अफ़रा-तफ़री है, भटकन है. अपना कैरियर चयन करने की जो गंभीरता और संयम, गरिमा होनी चाहिए वह नहीं है. इस उथल-पुथल भरे वातावरण में जी रहे हैं हम सब, क्या कहना चाहेंगी आज की युवा पीढ़ी के लिए?

मधु ! बहुत-सी बातों को हम कोशिश करके भी नहीं रोक पाते लेकिन मैं इतना ज़रूर सोचती हूं कि हमें उपदेश नहीं आचरण पर ध्यान देना होगा. माता-पिता को अपने ऊपर काम करने की ज़रूरत अधिक लगती है मुझे. शायद हम ही कहीं न कहीं चूक जाते हैं, कमज़ोर पड़ जाते हैं. युवा पीढ़ी अपनी पुरानी पीढ़ी से ही सीखती है. आज के युवा

बहुत स्मार्ट व समझदार हैं, उन्हें दिशा-निर्देश की आवश्यकता है. मित्र बनकर उन्हें सही सलाह देने का प्रयास करने के साथ ही उन पर दृष्टि रखकर उन्हें वास्तविकता का चित्र दिखाना भी हमारा ही कर्तव्य हो जाता है.

जानना चाहूंगी कि आज की पीढ़ी पढ़ने-लिखने की ओर क्यों नहीं आकर्षित होती है? हम सभी ने बहुत छोटे से सृजन आरंभ कर दिया था. आज युवा वर्ग में अवसाद पसरा हुआ है. युवा पीढ़ी में साहित्य, पुस्तकें, आध्यात्म की ओर रुझान उत्पन्न करने के लिए क्या करना चाहिए?

मधु, हम सब जानते हैं कोई भी समय अपनी चिंताओं से मुक्त नहीं रहा है. समय का प्रभाव बड़े स्वाभाविक रूप में मनुष्य पर पड़ता है. हम सब पर भी पड़ा है, आज की पीढ़ी पर कुछ अधिक ही पड़ रहा है. जैसा मैंने पहले कहा, कहीं न कहीं पारिवारिक विघटन, माता-पिता का अपने रिश्तों के प्रति अविवेकी होना, अहं, ईर्ष्या, द्वेष, नकल – ये सब भी तो इसके लिए उत्तरदायी हैं. हम पहले खुद समझेंगे तभी बच्चों को समझा पाएंगे न !

आप एक शिक्षिका, साहित्यकार रही हैं, मंचों पर भी आपकी उपस्थिति निरंतर रहती है, आपकी ऊर्जा, जिजीविषा, सदा स्नेह से हर कार्य को साकार करना, क्या है इस अदम्य उत्साह, चैतन्य और हंसी से आभासित व्यक्तित्व का रहस्य? युवा पीढ़ी आप सरीखे ऊर्जायित रचनाकार का अनुकरण करे, सशक्त बने, विपदाओं से डटकर मुकाबला करे, क्या करना चाहिए?

मैंने तुम्हें अपनी पूरी कथा सुना दी, मुझे लगता है कि सकारात्मकता ने मेरे जीवन को सदा आशीष दिया है. यह हमारे ज़माने में भी ज़रूरी था, आज भी उतना ही ज़रूरी है, कल भी रहेगा. कठिनाइयां न आएं ऐसा तो हो ही नहीं सकता, उनमें से ही निकलना पड़ता है, चाहे रोकर निकलें अथवा हंसकर –रोने से कोई समाधान तो मिल नहीं जाता इसलिए हंसकर ही समय के साथ बहना सिखाया मुझे समय ने ही.

जहां तक प्रकाशन का सवाल है, पता नहीं कितनी पत्रिकाओं से सामग्री वापिस आयीं. युवा पीढ़ी को इस प्रकार के व्यवधानों की चिंता नहीं करनी चाहिए. शुरू-शुरू में तो मुझे दु:ख होता था बाद में मैंने पत्रिकाओं में भेजना ही छोड़ दिया लेकिन मस्तिष्क व क़लम को जंग नहीं लगा, यह मां शारदे की अनुकंपा ही रही. मंच पर, आकाशवाणी, दूरदर्शन आदि में बड़े स्नेह व सम्मान से आमंत्रित किया जाता रहा, यह मेरा सौभाग्य रहा.

मैं समझती हूं किसी भी परिस्थिति में घबराकर उससे हट जाने से कोई लाभ नहीं होता. अपने हाथ में यदि कुछ नहीं है, प्रयत्न तो है. मैं युवा पीढ़ी से यही कहना चाहूंगी कि इतने चुप न हो जाएं कि टूटने की कगार पर आ जाएं. अच्छी पुस्तकों, सुविचार वाले मित्रों को अपने पास बनाए रखें. अपने ऊपर काम करें, खुद में झांकने का प्रयत्न करें. एक बात जो मुझे कम से कम बहुत महत्वपूर्ण लगती है कि परिवार युवा-पीढ़ी से ऐसा व्यवहार करे कि युवा अपने परिवार से खुलकर अपने मन की बात कर सकें, अपने मन में उठते हुए प्रश्नों का समाधान परिवार में ही पा सकें, न कि कहीं बाहर से. बाहर के वातावरण का, बदलाव का प्रभाव न पड़े, ऐसा तो हो ही नहीं सकता लेकिन कोशिश यह रहे कि उन्हें अपने घर पर ही उन कठिन प्रश्नों के उत्तर मिल सकें जिनसे वे जूझते हैं, ऐसे संस्कार मिलें जो उनके जीवन को सही मार्ग-निर्देशन दे सकें.

धन्यवाद दीदी, आपकी ही पंक्तियों से विदा ले रही हूं –

चटकती धूप सिहरन जगा के जाती है,
मेरे भीतर के सारे भेद खोल जाती है.
तुम वहां क्यों खड़े हो ज़िंदगी के पैताने,
ये धूप वो है जो आती है लौट जाती है.

द्वारा श्री मनीष शर्मा
'कृष्ण कुटीर,' १० बी,
न्यू सूर्यनारायण सोसाइटी- नं १
सोमेश्वर महादेव मंदिर के सामने,
घाटलोड़िया, अहमदाबाद- ३८२४६१.
ई-मेल : pranavabharti@gmail.com
मो. ९९०४५१६४८४

श्रीमती मधु प्रसाद
२१, गोकुलधाम सोसायटी,
चांदखेड़ा, अहमदाबाद- ३८२४२४.
मो.-९५५८०२०७००

रानी राशमोणि : एक करुणामयी भूस्वामी

✍ डॉ. राजम पिल्लै

राशमोणि दास — रानी राशमोणि - करुणामयी 'लोकमाता'— उन्नीसवीं सदी के भारत की एक अपूर्व, अद्‌भुत महिला-ज़मींदार, कारोबार की नियामक, उदार, दानी और कोलकाता, बंगाल के ऐतिहासिक दक्षिणेश्वर काली मंदिर की संस्थापिका. दक्षिणेश्वर काली मंदिर की धार्मिक-आध्यात्मिक गरिमा में अभिवृद्धि की — परमहंस रामकृष्ण ने जब वे वहां रानी राशमोणि द्वारा पुजारी नियुक्त किये गये.

बड़ा ही सामान्य-सा जीवन था कन्या राशमोणि का. तात्कालीन बेंगाल प्रेसिडेंसी के एक सामान्य से गांव कोना में २८ सितंबर १७९३ को पैदा हुई थी वह. छोटी उम्र में ही मां नहीं रही. पिता हरेकृष्ण दास ने तात्कालीन बालविवाह परंपरा के अनुसार उसकी शादी ११ वर्ष की उम्र में जान बाज़ार कोलकाता के एक ज़मींदार परिवार के सदस्य बाबू राजचंद्र दास के साथ कर दी; चार बेटियां हुईं लेकिन राशमोणि इन सबके बीच केवल गृहस्थन ही नहीं बनी रही. उसमें तीव्र बुद्धिमता थी, विवेकपूर्ण दूरदर्शिता थी और थी गहन ईश्वर-भक्ति. लोक-सेवा और जन-कल्याण की निस्स्वार्थ आकांक्षा और उन्हें साकार करने की अथक कर्मठता और क्षमता ने ही कालांतर में उसे संपूर्ण बंगाल के जनमानस में 'लोकमाता' की गौरवमय प्रतिष्ठा प्रदान की.

सन १८३६ में पति की मृत्यु के बाद राशमोणि ने सहज भाव से ज़मींदारी और अन्य कारोबारों की ज़िम्मेदारी ग्रहण की और बड़े साहस और सुदृढ़ता के साथ उसे निभाया और उसे आगे बढ़ाया.

व्यवहार-कुशल व्यापारी, साहसी भू-स्वामी :

अपने जन्मजात कैवर्त-केवट/मछुआरा समुदाय के हितों को संभालने के दौरान राशमोणि को ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के अहलदारों को भी चुनौती देनी पड़ी और उसने गंगा/हुगली के घाटों पर के व्यवसायी मछुआरों के लिए प्रबल प्रतिवाद किया. उसके नेतृत्व में जैसे पूरा केवट-मछुआर समुदाय ही विरोध-विद्रोह के लिए उठ खड़ा हुआ.

व्यवहार चतुर, व्यापारी, कंपनी ईस्ट इंडिया कंपनी अपने हितों को क्षति नहीं पहुंचा सकती थी और ख़ासकर एक विदेशी धरती पर, वहां के निवासियों के आक्रोश को मोल लेना उसके लिए लगभग आत्मघाती ही साबित होता और ख़ासकर उस कालखंड में जब वह अभी हिंदुस्तान में अपने पांव जमा ही रही थी.

राशमोणि विजयी रही. राशमोणि ने इस बीच सड़कों और घाटों का निर्माण भी करवाया ताकि तीर्थयात्रियों को आवागमन की सुविधाएं मिल सकें. और इन सबके बीच जैसे एक चमत्कार ही घट गया.

देवी मां का निर्देश और अनुपालन :

दक्षिणेश्वर काली मंदिर बंगाल की हुगली नदी के तट

पर बसा हुआ बंगाली नवरत्न (नौ गुंबद) शैली में स्थापित एक विख्यात और जनमान्य मंदिर है. जहां की अधिष्ठात्री देवी है — 'भवतारिणी' जो 'पराशक्ति आद्या काली' या 'आदिशक्ति कालिका' के नामों से जानी जाती है.

रानी राशमोणि ने सन १८५५ में इस मंदिर का निर्माण कार्य पूरा किया. इस निर्माण की परिकल्पना के पीछे एक दैवी निर्देश और उसके अनुपालन की कथा कही जाती है.

डॉ. राजम पिल्लै

राशमोणि तब तक 'रानी' राशमोणि के रूप में प्रतिष्ठा पा चुकी थी और अपने सामाजिक-धार्मिक दान-अनुदान कार्यों के लिए सामान्य जनों और अभिजनों के बीच लोकप्रिय और सम्माननीय हो चुकी थीं. सन १८४७ को राशमोणि ने एक लंबी तीर्थयात्रा की योजना बनायी और विशेष रूप से काशी जाकर अपनी देवी-भक्ति की अभिव्यक्ति के लिए तैयारियां करनी शुरू कर दीं. लंबी यात्रा थी, दीर्घ काल के लिए थी इसलिए आयोजन भी विशाल था, भव्य था.

जनश्रुति कहती है कि तीर्थयात्रा के प्रारंभ के एक दिन पूर्व रात्रि को देवी मां ने रानी को स्वप्न में दर्शन दिये और मां ने कहा, 'कोई आवश्यकता नहीं है बनारस जाने की. गंगा तट पर एक मनोरम मंदिर का निर्माण करो, मेरी मूर्ति की प्रतिष्ठापना करो, मैं स्वयं मूर्ति में अवतरित हूंगी और उस स्थान पर पूजा को स्वीकार करूंगी.'

दक्षिणेश्वर मंदिर का निर्माण :

रानी राशमोणि ने देवी के स्वप्न-संदेश को अक्षरश: आदेश माना और दक्षिणेश्वर गांव में ३००० एकड़ प्लॉट ख़रीदा. सन १८४७ और १८५५ के बीच मंदिर का निर्माण कार्य प्रारंभ होकर समापन पर पहुंचा.

८ साल की कालावधि और ९ लाख रुपये का व्यय कर मंदिर निर्माण कार्य संपन्न किया गया.

इस बीच, संकीर्ण सामाजिक मान्यताओं का सामना भी रानी को करना पड़ा. वर्ण व्यवस्था के अनुसार वह शूद्र-कोटि में आती थी सो उसके द्वारा निर्मित किये गये मंदिर में पूजा कार्य करने के लिए शुरू-शुरू में कोई ब्राह्मण पुजारी उपलब्ध नहीं हुआ.

रानी के अटल संकल्प की फिर से परीक्षा तो हुई लेकिन देवी की अनुकंपा से वह अवरोध भी टल गया.

३१ मई १८५५ को देवी काली की मूर्ति की प्रतिष्ठापना की गयी. श्री श्री जगदीश्वरी महाकाली की मूर्ति प्रतिष्ठापना के अवसर पर आयोजन के प्रमुख पुजारी थे रामकुमार चट्टोपाध्याय. बाद में उन्होंने अपने छोटे भाई गदाई-गदाधर को भी गांव से बुला लिया.

यही गदाधर थे कालांतर के श्री रामकृष्ण परमहंस स्वामी विवेकानंद के आध्यात्मिक गुरू और इन्हीं के नाम पर स्वामी विवेकानंद ने बाद में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की.

रानी राशमोणि का ऐतिहासिक अवदान :

रानी राशमोणि, रामकृष्ण परमहंस और उनकी सहधार्मिणी मां शारदा देवी का अत्यंत सम्मान करती थीं. मंदिर में ही उनके आवास की व्यवस्था की गयी थी.

मंदिर के उद्घाटन के पश्चात केवल ५ वर्ष और ९ माह के बाद रानी राशमोणि का देहांत हुआ.

१८ फरवरी, सन १८६१ को उन्होंने मंदिर की भावी व्यवस्था के लिए पूरी औपचारिक कार्रवाइयां पूरी कीं और १९ फरवरी को देह-त्याग किया.

रानी राशमोणि दास ने एक सामान्य मानव-जीवन को किस प्रकार दृढ़, संकल्प-शक्ति और ईश्वरीय अनुकंपा के बल पर उच्चतम सोपानों तक पहुंचाया जा सकता है इसका भव्य प्रतिमान प्रस्तुत किया.

'लोकमाता' राशमोणि आज भी हज़ारों-हज़ारों लोगों के मानस जगत पर 'रानी' की तरह शासन कर रही है.

६०१–ए, रामकुंज को. हॉ. सो.,
रा. के. वैद्य रोड,
दादर (प.), मुंबई-४०००२८.
मो.:९८२०२२९५६५.
ई-मेल : rajampillai43@gmail.com

पुस्तक समीक्षा

आंचलिक उपन्यास 'अंगूठे पर वसीयत'- एक दृष्टि

श्याम नारायण श्रीवास्तव

अंगूठे पर वसीयत (उपन्यास) – **डॉ. शोभनाथ शुक्ल**
प्रकाशक : साक्षी प्रकाशन संस्थान, सुलतानपुर (उ. प्र.)
मूल्य :३०० रुपये

रोज़ी–रोटी की तलाश में शहर की ओर पलायन करते युवा गांव को विस्मृत कर रहे हैं. शहर के घरौंदे को बढ़ाते जाने की प्रक्रिया में उनके संस्कार में जो परिवर्तन होता है, उसके कारण वे गांव का घर और संयुक्त परिवार भूल जाते हैं. अपने ही मां–बाप को तिरस्कृत कर पूर्वजों की संपत्ति को हड़पने की नियति एक बेटे को इतना कुसंस्कारी बना देता है कि वह अपने पिता की मृत्यु की राह देखता है. वरिष्ठ कथाकार डॉ. शोभनाथ शुक्ल का यह प्रथम उपन्यास 'अंगूठे पर वसीयत' इसी पृष्ठभूमि से प्रारंभ होता है. जहां रामबरन ग़रीब का बेटा बलराम गांव की जायदाद को लेकर बनवाये गये वसीयत पर उनका अंगूठा चाहता है.

'रामबरन ग़रीब की मृत्यु का इंतज़ार करते-करते उनका लड़का थक गया किंतु वे मरे नहीं... उसे यमराज की शक्ति, उनकी सत्ता में खोट और कपट नज़र आने लगा.' इन्हीं शब्दों से शुरू किया गया यह उपन्यास प्रारंभ से ही एक रोचकता के साथ आगे बढ़ता है. डॉ. शुक्ल लिखते हैं, 'यह तीसरी बार था कि वह अपनी महत्वपूर्ण नौकरी की छुट्टियां बिताकर फिर खाली हाथ लौट रहा था. इस बार वह अपने बॉस को क्या जबाब देगा? उसने सोचा था, इस बार निश्चित रूप से उसके पिता की मृत्यु हो जाएगी, बार-बार के झंझट से मुक्ति मिलेगी...'

वर्तमान पीढ़ी के एक युवक की विकृत मानसिकता को दर्शाता यह उपन्यास आगे बढ़ता है. तमाम प्रयासों के पश्चात भी वसीयत पर इस बार भी अंगूठा नहीं लग पाता. एक बड़े ओहदे पर कार्यरत रामबरन ग़रीब का बेटा गांव का बल्लू अब तक बलराम, बलराम ग़रीब से मिस्टर बी.आर. ग़रीब तक पहुंच चुका था. अंतर्विवाह से आयी उसकी पत्नी अंजली तो उसे बी.आर. ही कह कर बुलाती है.

यों तो संपत्ति हड़पने की लालसा व कुत्सित विचार की कहानियों से आज गांव भरा पड़ा है. राजनीति, कूटनीति, व्यभिचार,जातिगत व्यवस्था की संवेदना के प्रति निजी स्वार्थों के कारण अब शहर ही नहीं, गांव भी मुखौटाधारी हो गया है. बेटे की उच्च शिक्षा और बेटी के विवाह हेतु लिए ली गयी उधारी वापस करने में मज़बूर, रामबरन ग़रीब जब अपनी पत्नी के साथ बेटे–बहू से मिलने शहर जाते हैं तो बहू अंजली बच्चों से कहती है, 'दादा–दादी के पास बहुत नहीं रहना है. वे लोग गांव–गंवई के मनई हैं... छुआछूत से संक्रामक रोग होने का ख़तरा रहता है.'

शहर में बेटे ने रामबरन की कोई आर्थिक सहायता नहीं की हां, गांव लौटने पर लेनदारों की आवाजाही और बढ़ गयी थी. गांव के लोग जब रामबरन ग़रीब से पूछते हैं, बलराम तो बहुत बड़ा अधिकारी है. तो डॉ. शुक्ल लिखते हैं, 'पर सच की गठरी उन दोनों ने औरों के सामने नहीं खोली तो नहीं खोली.' निश्चय ही यह एक संयुक्त परिवार के मुखिया के संस्कार हैं. रामबरन देनदारों से समय मांगते हैं. फिर सोचा कुछ ज़मीन बेच देते हैं. लेनदारों में सुमित्रा अर्थात परधानिन बुआ भी हैं, जो शादी के एक महीने बाद ही विधवा हो गयी थीं. अपने मायके आ गयीं. भाई कोई न था तो पिता की पूरी ज़मींदारी संभाल ली थी. रामबरन ने जब परधानिन बुआ को बताया कि बेटे बलराम ने धोखा दे दिया तो वह बोलीं, 'मैं तो तुमको बताने आयी थी कि मेरी कोई ज़रूरत हो तो बताना. पुराना हिसाब-किताब जब चाहना कर लेना... देखो मैं तुम्हारे दर्द को समझती हूं. आपका लड़का आपको दगा दे चुका है और मेरा तो पति मुझे भरी जवानी में ही अकेला छोड़कर चला गया. जीवन तो मुसीबतों का मंच है... देखो खेती-बारी मत बेचना

ज़रूरत पर चले आना, रास्ता निकालूंगी.' किंतु रामबरन अपनी दो बीघा ज़मीन का सौदा रविकांत चौबे के हाथ कर चुके थे, बेचकर अपना सारा कर्जा उतारा.

'अंगूठे पर वसीयत' उपन्यास एक साथ कई कहानियों को अपने साथ संजोये हुए है. जो गांव के किसी न किसी मसले को अतीत से वर्तमान तक खींच कर पाठक के समक्ष लाकर खड़ा कर देता है. उपन्यास का एक पात्र नोहरी अपनी ही भतीजी सुमीता के साथ दुष्कर्म करता है और उसे बदनाम करना चाहता है एक निर्दोष युवक रोशन के साथ नाम जोड़कर. तमाम तहकीकात के पश्चात पंचायत नोहरी को आर्थिक दंड लगाते हुए, भतीजी सुमीता को अधिकार देता है कि वह अपने अपमान का बदला भरी पंचायत में नोहरी को पच्चीस चप्पल मारकर ले. उसी गांव की परधानिन बुआ की एक अलग ही कहानी है, जो विधवा होने के पश्चात ज़मींदार पिता के विरासत की मालकिन और विगत बीस वर्षों से गांव की परधान बनी रही.

डॉ. शुक्ल लिखते हैं कि इस बार का चुनाव कठिन था क्योंकि रविकांत चौबे अपनी मां को चुनाव लड़ाना चाहते हैं. जो गांव के अच्छे काश्तकार तो हैं ही मुंबई में उनका दूध का बड़ा व्यापार है. पैसे की कोई चिंता नहीं थी तो वह भी ताल ठोककर मैदान में आ जाते हैं. किंतु परधानिन बुआ ने अपने मोहजाल में फंसा धन-मन और नाम वापसी के एक दिन पूर्व एक होटल में जाकर अपना तन भी चौबे जी को समर्पित कर दिया. अंतत: चौबे जी अखाड़े में पहुंचने के पहले ही मैदान छोड़कर भाग लिये. उन्होंने नाम वापस ले लिया और सुमित्रा अर्थात परधानिन बुआ फिर जीत जाती हैं, लेकिन चुनाव की बाजी पलटने के देह समर्पण का परिणाम यह निकला कि परधानिन बुआ गर्भवती हो जाती हैं और कहानी का अंत रविकांत और सुमित्रा के विवाह पर जाकर होता है.

इस तरह से उपन्यास में कई कहानियां एक दूसरे के समानांतर चलती रहती हैं जो उपन्यास की पठनीयता और रोचकता को अंत तक बनाये रखती हैं, रामबरन अपनी ज़मीन में एक स्कूल खोलते हैं, जिसमें सुमीता और रोशन भी कार्यरत हैं.

उपन्यास बताता है कि वर्तमान पीढ़ी के नैतिक पतन और नियति में आते खोट से अब पूर्व की पीढ़ी अनभिज्ञ नहीं है. शायद यही कारण है रामबरन ग़रीब वसीयत पर अंगूठा नहीं लगाता बल्कि बेटे बलराम को अंगूठा दिखा देता है. रामबरन बहुत बीमार रहने लगते हैं उनकी पत्नी जसोमति, बेटी साधना अस्पताल में इलाज कराते रहते हैं और बलराम फिर छुट्टी लेकर आ जाता है कि इस बार तो वसीयत पर अंगूठा लगवा ही लेगा. किंतु रामबरन बहुत क्रोध में होते हैं. 'कागज़ हाथ में आते ही रामबरन ने जलती आंखों से देखा बलराम को...बेड से उठे. दोनों हाथों से वसीयत को चीर डाला उन्होंने और टुकड़े-टुकड़े कर फेंकते हुए जोर से चिल्लाये... ले साले हरामी कहीं के... ले माला बनाकर पहन इसे...' उपन्यास की शुरुआत जिस रोचकता से है, अंत भी उतना ही रोचक है.

इस उपन्यास के देशकाल परिस्थिति की बात करें तो यह उत्तर प्रदेश के फतेहपुर, बिंदकी की कहानी है. उपन्यास में बताये गये स्थान बावन इमली पेड़, खजुहा, बिंदकी, फतेहपुर जिले में स्थित है. स्थान के ऐतिहासिक महत्व को बताते हुए डॉक्टर शुक्ल ने लिखा है, 'खजुहा तो ऐसे ही ऐतिहासिक महत्व का क़स्बा है बाज़ार तो छोटा है पर मेला बड़ा है. वैसे ये बाज़ार औरंगजेब के बाग़, बादशाही और शस्त्रागार भंडारण के लिए ऐतिहासिक महत्व रखता है.' इस प्रकार उपन्यास वहां के इतिहास और संस्कृति को भी उजागर करता है. इन सब आधारों पर इसे आंचलिक उपन्यास तो कहा जा सकता है किंतु इसमें आंचलिक भाषा की कमी अखरती है.

रामबरन ग़रीब की पत्नी जसोमती देवी गांव से शहर बेटे के पास जाती है. अपने साथ ले जा रही गुड़, गंजी, गन्ना, घुघरी के साथ गांव की महक तो ले गयी लेकिन कहीं भी वार्तालाप के समय गांव की भाषा की महक नहीं मिली. जब वह बस में बात करती है तो कहती है, 'यह बकवास काहे कर रहे हो, तुम्हें क्या पता? यह घूस का सामान नहीं प्यार और अपनत्व का तोहफ़ा है... ' या फिर अपनी बहू अंजली से जब बात करती है, 'देखो बहू अपनी ज़मीन से कट जाने वालों की बड़ी दुर्दशा होती है. शहरी जीवन तो तुच्छ सोच वालों का बाज़ार बनकर रह गया है, संस्कार और नैतिकता तो अभी गंवई लोगों में ही ज़िंदा है.' या फिर

जब बच्चे अपने दादा रामबरन से कुछ दिन और रुकने को कहते हैं तो उनका उत्तर होता है,'यहां रहकर क्या करूंगा, बोर ही तो होता हूं.' उपन्यास में कम पढ़े-लिखे रामबरन व जसोमति की यह भाषा समझ में नहीं आयी.

फिर भी उपन्यास की भाषा शैली सरल है जो सरलता और सहजता से अपनी अभिव्यक्ति पाठक तक संप्रेषित कर देती है. कई स्थानों पर उपन्यास का उद्देश्य स्पष्ट दिखाई पड़ता है. प्राय: गांव में कई चाय की दूकानें होती हैं, जहां गांव से दिल्ली तक चुनावी गणित या राष्ट्रीय मुद्दे पर जोरदार बहस होती है. इस गांव में भी बाबूलाल की चाय की दुकान पर जमावड़ा होता है. जहां जैतू यादव जैसे लोगों के माध्यम से उपन्यासकार समाज के दर्द को निचोड़कर रख देता है, 'अब लोकतंत्र की दुहाई देकर भले ही चुनाव हों पर है तो यह राजतंत्र ही. हर राजनैतिक पार्टी अपना झंडा बैनर थमा देती है और दलगत चुनाव में जहां रुपया, दारू की लूट चलती हो, मुर्गा-बकरा रोज़ कट रहे हैं, कंबल लुटाये जा रहे हों और जाति-सांप्रदायिक वैमनस्य बढ़ा कर वोट लिया जा रहा हो, फ़र्जी वोटों की बौछार चल रही हो, क्या मतलब है ऐसे चुनाव का?' विमर्श हेतु एक बड़ा प्रश्न है.

ऐसे ही स्त्री के अस्तित्व पर परधानिन बुआ (सुमित्रा) के माध्यम से उपन्यासकार स्त्री के स्वातन्त्र्य पर समाज से पूछता है, 'हर स्त्री को अपने ढंग से जीने का अधिकार है. उसे क्यों कर कटघरे में खड़ा कर दिया जाता है. मैंने क्या किया... ये लोग इकतरफ़ा ही क्यों सोचते हैं... मेरी ज़रूरतें... शारीरिक-मानसिक-दैहिक-भौतिक सब तरह से क्या ख़त्म हो सकती हैं? फिर स्वार्थ के लिए ही सही... दैहिक ज़रूरतों की पूर्ति क्या अपराध है? इसे अपराध की श्रेणी में क्यों रख दिया गया? पुरुष की अपनी निरंकुशता बनी रहे... शायद इसलिए...?

सच है कि किसी भी उपन्यास की कथावस्तु यथार्थ के निकट होती है लेकिन उपन्यासकार की अपनी कल्पनाशीलता से वर्णित बहुत से कथन एक अलग रोचकता उत्पन्न करते हैं. यह एक पूर्ण उपन्यास है. जहां आमजन की पीड़ा, संवेदनाएं, ज़रूरतें व बेहतर भविष्य, वर्तमान समाज की व्याप्त कई बुराइयों और विसंगतियों को सूक्ष्मता से उभारा गया है.

डॉ. शुक्ल प्रारंभ में ही अपनी बात रखते हुए कहते हैं, 'यह तो विश्वास के साथ कह सकता हूं कि मेरी निग़ाह इस छोटे से समाज की, जिन गांव की गलियों, सड़कों, घरों, झोपड़ियों, बाग़-बगीचों, जंगलों, जानवरों, चरवाहों, ग़रीब–अमीर परिवारों के विभिन्न चरित्रों के जीवन, रहन-सहन और उनके क्रिया कलापों तक पहुंची है. इस समाज में रहने वाले जिन परिवारों की ज़िंदगी की टूटन को, उनके संघर्षों को, उनके आत्मबल को देखा–समझा है वे प्रतीकात्मक विश्वसनीयता में वसीयत की बिसात पर सच ही है... जहां लालच भरी वसीयत अंगूठे की स्याही के लिए तरसती टुकड़ा–टुकड़ा होकर जमींदोज हो जाती है. निश्चय ही शुक्ल जी द्वारा उपन्यास की कथावस्तु में एक सीमित समाज के माध्यम से देश के बड़े पटल को देखने–समझने और महसूसने का एक अच्छा और सार्थक प्रयास किया गया है.

३०२, ग्रीन व्यू कॉलोनी,
निकट जिंदल स्टील,
रायगढ़ –४९६००१ (छ. ग.)
मो. ७९९९६५२६४६

फांसी बाग : अन्याय के प्रतिरोध मे उठी सबसे कमजोर आवाज को बुलंद करता उपन्यास

गोविंद सेन

फांसी बाग (उपन्यास) : **नरेंद्र नागदेव**
प्रकाशक : किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली - ११०००२
मूल्य : २५०/-

'फांसी बाग' बहुमुखी प्रतिभा के धनी नरेंद्र नागदेव वरिष्ठ कथाकार-उपन्यासकार और चित्रकार का नवीनतम पांचवां उपन्यास है. यथार्थ को प्रस्तुत करने का नरेंद्र जी का एक अलग ढंग है. उनके पास एक अनूठी शैली है. फंतासी के जरिए कथा को कहने का उनके पास जबर्दस्त हुनर है. बिंबों, प्रतीकों और रूपकों का प्रयोग कर वे कथा को

चमकदार, सार्थक, प्रभावी और सघन बना देते हैं. सामंतवादी व्यवस्था के शिकार पात्रों की लाचार मानसिकता, उनकी बेचारगी, उनके अपराध भाव, उनकी जिजीविषा को प्राचीन मिथकों और वैश्विक संदर्भों से जोड़कर चित्रित करने में नरेंद्र जी सिद्धहस्त हैं. सामंतवादी पात्रों के क्रूर, षडयंत्रकारी, झूठे दर्प, विषाक्त मनोभावों और उनके कुत्सित क्रियाकलापों को भी वे उसी शिद्दत से प्रतीकात्मक रूप में बख़ूबी दर्ज़ करते हैं. छोटे-छोटे वाक्यों की सघन शृंखला के जरिए नरेंद्र जी सामंतवादी ढांचे के अंतर्गत पनपने वाली खूंखार प्रवृत्तियों और स्थितियों को मूर्त कर देते हैं.

यह उपन्यास तीन खंडों में विभक्त है. 'दिया तो आकाश का टुकड़ा', 'तो फिर पूरा आकाश क्यों नहीं?' और 'फांसी बाग'. पहले खंड से उपन्यास प्रारंभ होता है, दूसरे खंड में उसका विकास और अंतिम खंड में चरमोत्कर्ष पर पहुंच कर समाप्त. लेकिन समापन कहां? शोषण का यह सिलसिला तो आज भी बदस्तूर ज़ारी है. उपन्यास में चित्रित गांव महाभारत के ज़माने का है. गुरु द्रोणाचार्य भी यहीं रहते थे और ऊपर हवेली वालों को तीर चलाना सिखाते थे.

ठाकुर की हवेली सत्ता का केंद्र है. सारे आदेश हवेली से ही प्रसारित होते हैं. मुंशी, चार दबंगों की चौकड़ी और उनका शेर हवेली की सत्ता को कायम रखने में किसी भी हद तक जा सकते हैं. हवेली में ठाकुर के बेटे छोटे ठाकुर भी हैं. छोटे ठाकुर हर साल परीक्षा में अव्वल आते हैं. ठाकुर को यह कतई मंजूर नहीं कि कोई अन्य परीक्षा में अव्वल आये.

मुंशी मातादीन का निवेदन ठाकुर के सामने रखता है कि इसकी बेटी को इस वर्ष ग्यारहवीं कक्षा में फ़र्स्ट आने की इज़ाजत दी जाए. ठाकुर से उसे इज़ाज़त नहीं मिलती. सुखद आश्चर्य था कि वह उसकी बेटी को फ़र्स्ट आने की इज़ाजत दे देता है. छोटे ठाकुर को गुमान था कि उसकी फ़र्स्ट पोज़ीशन कोई छीन नहीं सकता. मातादीन की लड़की फ़र्स्ट नहीं आ सकती.

लेकिन रिज़ल्ट अप्रत्याशित था. मातादीन की बेटी फ़र्स्ट आ जाती है और छोटे ठाकुर दूसरे स्थान पर. वह फ़र्स्ट में दो नंबरों से चूक गया था. यह हवेली की शान और गरिमा के बिलकुल खिलाफ़ था. दो कौड़ी के निचले टोले की एक लड़की ने गांव की नाक काट दी थी. बड़े ठाकुर की नाक ही गांव की नाक थी. छोटे ठाकुर को लड़की को फ़र्स्ट आने की इज़ाजत देने की दरियादिली के लिए घुड़का गया पर इसके लिए दोषी माना गया मातादीन को. नाराज़ बड़े ठाकुर और चौकड़ी ने मिलकर मातादीन को बुलाकर उसकी सज़ा सुना दी. जिस स्कूल में उसकी लड़की पढ़ती थी उसी स्कूल में उसे दो महीने तक झाड़ू-पौंछा सफ़ाई का काम करना था. यह सज़ा पूरी होने के बाद स्कूल से कैश चोरी का आरोप लगाकर सरे बाज़ार घुमाया जाना था.

लड़की का फ़र्स्ट आना और सम्मानित होना ठाकुर, उसकी चौकड़ी और शेर पर नागवार गुज़रता है. वे अपने खूंखार मंसूबों के तहत एक साज़िश रचते हैं. अमराई में मातादीन और उसकी बेटी को सम्मानित करने के लिए बुलाया जाता है. गांव भर के उचक्के वहां इकट्ठे होकर शराब पीते रहे. उनके भीतर का शैतान संभाले नहीं संभल रहा था. अगली भोर में अमराई के एक बड़े पेड़ पर मातादीन और लड़की की लाशें झूल रही थीं. मातादीन का चिथड़ों में लिपटा शरीर घावों से भरा था. लड़की के शरीर पर घावों के साथ जगह-जगह गहरी खरोंचे थीं.

उपन्यास पढ़कर पाठक विचलित हुए बिना नहीं रह सकता. वह उस सदियों की ठहरी हुई, सामाजिक विषमता को बढ़ावा देती, अत्याचारी सोच की पोषक, वर्णवादी और शोषण आधारित समाज व्यवस्था से पूरी तरह वाकिफ़ हो जाता है. उच्च वर्ग की सामंती विषाक्त मानसिकता शोषित-वंचित वर्ग पर कैसे-कैसे जुल्म ढाती है और किस तरह उनके जीवन को नारकीय बना देती है, यह सब पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं. लोकतांत्रिक मूल्यों के खिलाफ़ खड़ी जातिवादी और सामंतवादी व्यवस्था झूठे श्रेष्ठता बोध-अभिमान का पोषण कर समानता और मानवता को सिरे से ख़ारिज करती रही है. अन्याय के प्रतिरोध में उठी हर कमज़ोर आवाज़ को क्रूरता से दबा दिया जाता है. लेकिन इस दुनिया में वही लोग सबसे सुंदर होते हैं जो अन्याय के खिलाफ़ खड़े होते हैं और बिना लड़े हार नहीं मानते. कवयित्री एलिज़ाबेथ कुबलर रोस अपनी कविता में यही कहती हैं जिसे नरेंद्र जी ने उपन्यास के तीसरे खंड के शीर्ष पर उद्धृत किया है. यह कम साहस की बात नहीं है कि निचले टोले की वंचित-दलित वर्ग की सत्रह साल की एक अपमानित-

अभावग्रस्त लड़की अंत तक झुकी नहीं. वह अपने स्तर पर प्रतिकार करती रही जबकि उसे इसके भयावह परिणाम का पता था. उपन्यास में ठाकुर, चौकड़ी, शेर, मुंशी, छोटे ठाकुर, विनय नारायण, मातादीन, लड़की, माली, दारोगा आदि सभी पात्र प्रतीक बनकर बख़ूबी उभरे हैं. हर पात्र अपने वर्ग का प्रतिनिधि है. सभी पात्रों के भाव-विचार, चिंता, दर्प, बर्बरता, निरीहता, जिजीविषा, दुख-तकलीफ़ और क्रियाकलाप उनकी सामाजिक हैसियत के अनुरूप ही चित्रित हुए हैं. सामाजिक संरचना के अनुरूप ही गांव की बसाहट भी है जिसमें सबसे ऊपर ठाकुर की हवेली है और सबसे नीचे तलछट में वंचित वर्ग का दलित टोला. उपन्यास महाराष्ट्र के खेरलांजी नामक गांव की दलित महिला और उसकी किशोरी बेटी के साथ हुई ज़्यादती से प्रेरित ज़रूर है पर उस घटना का महज प्रस्तुतीकरण नहीं है. लेखक ने उस घटना का अद्भुत रचनात्मक रूपांतरण किया है. उपन्यास का आवरण चित्र स्वयं नरेंद्र जी की तूलिका से सृजित है जो कथा के अनुरूप सटीक और अर्थवान है. क़िताब की छपाई-सफ़ाई उत्तम है. उपन्यास अत्यंत रचनात्मक और पठनीय है.

१९३ राधारमण कॉलोनी, मनावर-४५४४४६, जिला-धार (म.प्र.)
मो : ९८९३०१०४३९

गहन अंधेरे के बीच उम्मीदों की मशाल

राहुल देव

अंधेरा पाख़ और जुगनू (उपन्यास) : **राजेंद्र वर्मा**
प्रकाशक : डायमंड पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली.
मू. २५० रु.

'अंधेरा पाख़ और जुगनू' सुपरिचित रचनाकार राजेंद्र वर्मा का उपन्यास है. राजेंद्र वर्मा की विभिन्न विधाओं में अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, लेकिन उपन्यास के प्रारूप में यह उनका प्रथम प्रयास है, जिसे डायमंड पॉकेट बुक्स, नयी दिल्ली ने प्रकाशित किया है. राजेंद्र वर्मा बहुमुखी प्रतिभा संपन्न जनपक्षधर रचनाकार हैं. उनकी सभी कृतियों में इसकी छाप देखने को मिलती है. उपन्यास के शीर्षक में ही निहित है कि इस उपन्यास की कथा हमारे समाज में फैले हुए गहन अंधेरे के बीच तमाम मुश्किलों के बीच कुछ ऐसे जुझारू चरित्रों की दास्तान है जिसे पढ़कर पाठक सकारात्मक संवेदना से भर उठता है. उपन्यास का कथानक शहर से शुरू होकर गांव तक की यात्रा करता है. लखनऊ और बाराबंकी से लगे हुए अवध क्षेत्र का राजेंद्र जी ने एक कुशल गाइड की तरह विस्तृत वर्णन किया है. उपन्यास के माध्यम से उन्होंने वे सभी समस्याएं उठायी हैं जिनसे आम ज़िंदगी में एक निम्न मध्यमवर्गीय समाज प्रभावित होता है.

सुरेश और प्रदीप नामक दो नवयुवकों के माध्यम से लेखक बदलाव की कथा कहते हैं जिनके बीच तमाम छोटी-बड़ी घटनाएं आती हैं. उपन्यास की कहानी अत्यंत रोचक है, भाषा बहुत ही सहज है. किस तरह वे मुट्ठी भर लोग स्थानीय राजनीति, धर्म-जाति आधारित फूट, अशिक्षा, शराब आदि बाधाओं को पार करते हुए अपने सपने को सच कर पाते हैं, वह सटीक विश्लेषण के साथ, कथानक में बगैर किसी अतिरिक्त दख़ल के प्रस्तुत करना लेखक का उद्देश्य है जिसमें वे काफ़ी हद तक सफल हुए हैं.

इस उपन्यास के माध्यम से राजेंद्र वर्मा जैसे प्रतिबद्ध लेखक हमारे गांव के जटिल यथार्थ की संरचनाओं को न केवल खोलते हैं, बल्कि उनपर भरसक प्रहार भी करते नज़र आते हैं और न सिर्फ़ प्रहार करते हैं साथ ही उम्मीदों की रोशनी भी दिखाते हैं. शहरों में बेरोज़गारी प्रमुख समस्या है. पढ़े-लिखे लोगों को जब उनकी योग्यता के अनुसार काम नहीं मिलता, तो समाज का विकास भी संभव नहीं होता. ऐसे ही दो दोस्तों का यह संवाद देखें, 'कंपटीशन-वम्पटीशन सब दिखाने की बातें हैं. जब तक एक जैसी पढ़ाई नहीं होती, तब तक कंपटीशन का क्या मतलब है? यह तो वही बात हो गयी कि एक आदमी को रास्ते के एक छोर पर खड़ा करो और दूसरे को आधे रास्ते में, फिर कराओ दौड़! ऐसे में आधे रास्ते वाला जीत ही जाएगा. कंपटीशन कराना है तो क़स्बाई स्कूल वालों का क़स्बाई स्कूल वालों से करवाओ और कॉन्वेंटके व्यक्तियों का कॉन्वेंटो से. तब पता चले कि कौन कितने पानी में है! और नौकरी की भी क्या पॉलिसी है. किसी परिवार में चार-चार लोग नौकरी कर रहे

हैं और किसी परिवार में एक भी नहीं. अरे कम से कम इतना तो करो कि परिवार में एक को नौकरी दो. और तो और उस परिवार में जहां चार-चार लोग नौकरी कर रहे हैं, उनके पास दसियों एकड़ खेती भी है. फिर कैसे लागू होगा समानता का अधिकार?' अपनी पत्नी सुरेखा को लखनऊ दर्शन कराते हुए सुरेश-सुरेखा संवाद में भी पूंजी के असमान वितरण की समस्या को रेखांकित किया गया है,'बड़े लोगों के चोंचले हैं. बल्कि, अमीरी और ग़रीबी को बनाए रखने की यह रणनीति है. यहां सामान के दाम नहीं लिये जाते, अमीरी-ग़रीबी के अंतर को बनाए रखने की फ़ीस वसूली जाती है. इसीलिए तो देश में अमीरी-ग़रीबी की खाई दिन-रात बढ़ती जा रही है. थ्रीस्टार में ठहरने वालों को शर्म आती है कि वह फ़ाइवस्टार में क्यों नहीं ठहरा! इसी तरह फ़ाइवस्टार वाला चाहता है कि वह सेवन स्टार में ठहरे.'

उपन्यास के स्त्री पात्रों में सुरेखा का चरित्र भी सशक्त है. गांव के उत्थान के लिए वह अपने पति सुरेश के साथ पूरे समर्पण के साथ खड़ी है. गांव की स्त्रियों को लेकर घरेलू उद्योगों को आगे बढ़ाती है और उन्हें आत्मनिर्भर होने का अहसास कराती है. इससे उनके पारिवारिक जीवन में भी बदलाव आता है. उपन्यास में प्रदीप की भूमिका भी बहुत सशक्त है. वह सुरेश का मित्र है और उसे बदलाव की प्रेरणा देता है. आपसी संवाद में वह लोकतंत्र की स्थिति पर टिप्पणी करता है, 'सही कहते हो प्रदीप, कहां है जनता के लिए जनता का शासन? यह जनता द्वारा सृजित ठगों का शासन है. किसी ने सच कहा है कि लोकतंत्र मूर्खों का शासन है, लेकिन चारा भी क्या है. हर तरफ भेड़िए ही भेड़िए, उनकी चापलूसी करते यारों की पौ बारह है. जनता तो वह भीड़ है जिसे सिर्फ़ भेड़िए बदलने का ही अधिकार है.'

नौकरी न मिलने पर दोनों गांव लौट जाते हैं और एक विद्यालय के जरिए सर्वप्रथम शिक्षा की अलख जगाते हैं. गांव की आमदनी कम होने का एक मुख्य कारण सीमांत किसानों के छोटे-छोटे खेत होना भी है. जिसके लिए वह आपस में मिलकर सहकारी खेती का कांसेप्ट अपनाते हैं. गांव की महिलाओं को रोज़गार देने के लिए 'स्वयं सहायता समिति' का गठन करते हैं. इस तरह तमाम संघर्षों को पार करते हुए वे बदलाव की पुख़्ता ज़मीन तैयार करते हैं. अपने पात्रों के मनोविज्ञान की भी लेखक को बहुत अच्छी समझ है- 'आशंका की विश्वास से शत्रुता होती है. भोला-भाला आदमी जब पहली बार छला जाता है तो वह छल से नहीं घबराता, क्योंकि उसे पता ही नहीं होता कि वह छला जा रहा है. लेकिन जब उसे क्रूर सत्य का भान होता है तो वह आवश्यकता से अधिक सावधान हो जाता है और कभी-कभी हास्य का पात्र भी बन जाता है. लेकिन वास्तविकता की दुनिया में हर आदमी छली और बेईमान नहीं होता. यह संयोग की बात है कि कौन किससे टकराता है! कभी सीधे-सच्चे आदमी को कोई ठग मिल जाता है, तो कभी सीधा-सच्चा ही. यही संयोग या दुर्योग है, क़िस्मत है, जिस पर किसी का जोर नहीं.'

पात्रों के मानसिक नैरेशन को लेखक ने बख़ूबी प्रस्तुत किया है. इस उपन्यास की जीवंतता को देखकर इसके नाट्यरूपांतरण की संभावनाओं से इनकार नहीं किया जा सकता. इस पर एक अच्छी फ़िल्म बन सकती है. गांव के लोगों की आपसी बातचीत पाठक को आत्मीयता से भर देती है. राजेंद्र जी एक जगह लिखते भी हैं, 'गांव के अधिकांश लोग भोले-भाले होते हैं तो चालाक भी. भोले इस अर्थ में कि व्यक्त है जो किसी की बात पर विश्वास कर लेते हैं क्योंकि उनमें तर्कशक्ति न के बराबर होती है. चालाक इस अर्थ में कि वे कोई काम तभी करते हैं जब उन्हें पक्का भरोसा हो कि उसमें उनका कोई नुक़सान नहीं होगा. सहकारी खेती वाली बात पर पहले लोगों को कम भरोसा था लेकिन जब एक बार चीज़ सामने आ गयी तो फिर कैसा संशय. अब वे लोग समिति से जुड़ने लगे. कुछ लोगों को छोड़कर सभी वह कार्य करना चाहते हैं कि जिससे उनके गांव का उत्थान हो, उनके बच्चों का विकास हो.' इस सच से कोई इनकार नहीं कर सकता इन सबके साथ-साथ लेखक ने गांव के परिवेश में टीवी और रेडियो के उद्देश्यहीन कार्यक्रमों की भी जमकर खोज-ख़बर ली है. माहौल बिगाड़ने में इनका भी योगदान कम नहीं है. उपन्यास कुल ३४ भागों में बटा हुआ है और कोई भी भाग बहुत बड़ा नहीं है. सभी खंड एक दूसरे से बहुत अच्छी तरह जुड़े हुए हैं जिससे कथा प्रवाह बाधित नहीं होता. उपन्यास के अंत में लेखक ने

धर्म और जाति को लेकर जिस तरह से तार्किक चर्चा प्रस्तुत की है वह पाठक को वैचारिक रूप से उद्वेलित करता है,'जब समाज में एक धर्म अधिक जोर मारता है तो दूसरा धर्म भी उस जैसा बनना चाहता है. क्रिया की प्रतिक्रिया होती ही है, यह विज्ञान कहता है. धार्मिक आस्थावानों के हृदयों में धर्म के तार भले न झंकृत हों. उनमें मानवीयता के तत्व न पनपें, वे भले ही तथाकथित ईश्वर की प्राप्ति में सहायक — धर्म की भूमिका को पाखंड तक सीमित कर दें, लेकिन धर्म की आवाज़ बनकर उभरने की व्यापारिक चेष्टा वे अवश्य करते हैं.'

उपन्यास के बारे में कथासम्राट मुंशी प्रेमचंद कहा कहते थे,'मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूं. मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है.' इस लिहाज़ से कथावस्तु और चरित्र-चित्रण दोनों ही मानकों पर यह उपन्यास अपने उद्देश्य में सफल है. पहला उपन्यास होने के बावजूद लेखक ने जिस परिपक्वता के साथ इसे निभाया है, वह काबिले-तारीफ़ है. कृति को हिंदी कथाजगत के पाठकों का प्यार मिलना चाहिए.

९/४८, साहित्य सदन, कोतवाली रोड, महमूदाबाद, सीतापुर-२६१२०३.

लेटर-बॉक्स

(पृष्ठ ६ से आगे....)

कथाबिंब का जनवरी-जून-२०२१ अंक प्राप्त हुआ. पत्रिका मिलते ही सर्वप्रथम मुझे आपका संपादकीय पढ़ना रुचिकर लगता है जिसमें आप विद्वतापूर्ण टिप्पणियों के साथ देश-जहान की सामाजिक, राजनीतिक और तत्कालीन संपूर्ण विषयों/परिस्थितियों के बारे में सहज ही भिज्ञ करा देते हैं साथ ही पूरे अंक की रचनाओं पर की गयी आपकी संक्षिप्त टिप्पणियां भी आपकी संपादकीय ईमानदारी और श्रम और कर्मठता को उजागर कर देती हैं. इस अंक को अभी पूरा नहीं पढ़ पाया हूं. कुछ कहानियां पढ़ी हैं जिनमें कहानी 'अंतरिक्ष से' में डॉ. रमाकांत शर्मा जी ने अंतिम वाक्य में विश्व शांति की स्थापना का बहुत ही गहरा संदेश दे दिया है. 'गुडबॉय, मैं खुश हूं!' में डॉ. मनोज मोक्षेंद्र जी ने देश और विदेश की मानवीय संवेदनाओं का बारीकी से वर्णन किया है वहीं अपनी पत्नी और छोटे भाई के परिस्थितिजन्य संबंधों को सहज स्वीकार्य कर कहानी का अंत बहुत उपयुक्त तरीक़े से किया है.

'थैंक्यू दोस्त' में सुश्री शुभ्रा ओझा जी भी बुज़ुर्गों को नया रास्ता दिखाने में सफल रही हैं.

- *डॉ. दिनेश पाठक 'शशि',*
२८, सारंग विहार, मथुरा-२८१००६,
मो. ९८७०६३१८०५.

लघुकथा

उड़ान

संतोष श्रीवास्तव

निशा ने इन्कारी में सिर हिलाया. देवकांत भी ऑडिशन देते-देते थक चुका था. ऑडिशन में भी बाज़ार घुस आया था. मोटी रक़म बेसुरे को भी सुरीला सिद्ध कर देती. निशा को लग रहा था जैसे उसका संगीत गले में ही घुट कर रह जाने को मज़बूर है.

घर लौटेगी तो मां का वही राग – ' उम्र हो रही है तेरी निशा, शादी कर ले फिर जो करना हो करना. बनारस वाले लड़के के घर से बार-बार तेरी रज़ामंदी पूछी जा रही है.'

क्या इस बार भी वही जवाब रहेगा उसका कि मुझे अपना करियर बनाना है तब शादी का सोचूंगी, या फिर हार कर कहेगी ठीक है मां जैसा तुम चाहो...

नहीं हारना नहीं है उसे. मंज़िल पाना है अपनी.

'चलिए कॉफी पीते हैं ताकि दिमाग़ में व्याप्त शून्य हटे.'

'कॉफी से?' हंसते हुए निशा कॉफी हॉउस आ गयी. भविष्य दोनों मुंह बाये था और वर्तमान सहमा हुआ, निष्फल.

क़रीब एक घंटे तक तमाम योजनाओं पर विचार करते हुए, तीन प्याले कॉफी के ख़ाली करते हुए निशा ने कहा – 'म्यूज़िक कंपनी खोलूंगी अपनी. आप चाहे तो मेरे पार्टनर हो सकते हैं. कल ही लोन के लिए एप्लाई कर देती हूं.'

'क्या बात है, यह तो मैंने सोची ही नहीं थी. तुम्हें तो महिला होने के नाते सब्सिडी भी मिल जाएगी. महीनों का संघर्ष, बार-बार ऑडिशन में चयन न होने की निराशा को जैसे किनारा नज़र आया.

हौसला जाग चुका था, उड़ान भरनी शेष थी.

५०५, सुरेंद्र रेज़ीडेंसी, दाना पानी रेस्तरां के सामने, बावड़िया कला, भोपाल-४६२०३९.

“कमलेश्वर-स्मृति कथाबिंब कथा पुरस्कार-२०२१”

अभिमत-पत्र

वर्ष २०२१ के संयुक्तांकों में प्रकाशित कहानियों के शीर्षक, रचनाकारों के नाम के साथ नीचे दिये गये हैं. वर्ष २०२१ के दोनों संयुक्तांक “**कथाबिंब**” की वेबसाइट www.kathabimb.com पर उपलब्ध हैं. पाठक अपनी पसंद का क्रम (१,२,...७, ८) सामने के खाने में लिखकर हमें भेजें. आप चाहें तो इस अभिमत-पत्र का प्रयोग करें अथवा मात्र आठ कहानियों का क्रम अलग से एक पोस्टकार्ड पर लिख कर भेज सकते हैं या ई-मेल द्वारा भेजें. प्राप्त अभिमतों के आधार पर इस वर्ष से *सर्वश्रेष्ठ कहानी* (१५०० रु. - एक), *श्रेष्ठ कहानी* (१००० रु. - दो) तथा *उत्तम कहानी* (७५० रु. के पांच) पुरस्कार घोषित किये जायेंगे. “**कथाबिंब**” ही देश की एकमात्र पत्रिका है जिसने इस तरह का लोकतांत्रिक आयोजन प्रारंभ किया हुआ है. इसकी सफलता इसी में है कि ज़्यादा से ज़्यादा पाठक अपना निष्पक्ष मत व्यक्त करें. पाठकों का सहयोग ही हमारा मुख्य संबल है.

कहानी शीर्षक / रचनाकार	**आपका क्रम**
१. अंतरिक्ष से - डॉ. रमाकांत शर्मा	
२. गुड बॉय, मैं ख़ुश हूं ! - डॉ. मनोज मोक्षेंद्र	
३. थैंक यू दोस्त ! - शुभ्रा ओझा	
४. सलीब पर सपने - नीरजा हेमेंद्र	
५. पन्ने की अंगूठी - शुभदा मिश्र	
६. पिताजी - सतीश सिंह	
७. अपने-अपने विदेह ! - प्रकाश कांत	
८. मुफ़लिसी पर रहमत - नीतू मुकुल	
९. पासे अपने हाथ में, दांव न अपने हाथ - शिवानी शर्मा	
१०. मोह के धागे - वीणा विज “उदित”	
११. बो फिर आयेंगे - योगेंद्र शर्मा	
१२. काली लड़की - काव्या कटारे	
१३. बीजी यहीं हैं - अशोक गौतम	
१४. बरगद की छांव में - अमृता पांडे	
१५. पिंजरे - हरिप्रकाश राठी	
१६. मीरा की बिखरी यादें - सीमा जैन “भारत”	
१७. मैच फ़िक्सिंग - प्रो. दिवा भट्ट	
१८. नदी की अविरल धारा - डॉ. उपमा शर्मा	
१९. लेखा-जोखा - डॉ. अमिता प्रकाश	
२०. बाबूलाल भंगी - सिद्देश	
२१. धरती की बेटी - डॉ. लता अग्रवाल	
२२. आखिर क्यों - सरोजिनी नौटियाल	
२३. गांठ - पूनम मनु	
२४. नीड़ से बिछुड़े - महेश शर्मा	

श्रुति संवाद साहित्य कला अकादमी (पं.)

७७, प्रभात सेंटर, सेक्टर १ ए, बस डिपो के सामने,
सी. बी. डी., बेलापुर, नवी मुंबई-४००६१४.
संपर्क : ९८२१२१९३०३, ९८१९०८१३१०

श्रुति संवाद साहित्य कला अकादमी न केवल मुंबई बल्कि पूरे देश की एक जानी पहचानी साहित्यिक, सांस्कृतिक संस्था है जिसने नवी मुंबई से अपने साहित्यिक अनुभव की शुरुआत की थी, उस समय जब नवी मुंबई नया-नया बसा था और वहां पर साहित्यिक, सांस्कृतिक बियाबान था. ऐसे माहौल में **श्रुति संवाद साहित्य कला अकादमी** ने साहित्य का एक नन्हा सा पौधा रोपा. आज उस पौधे को इस विशाल रूप में देख कर आश्चर्यजनक गर्व होता है. **श्रुति संवाद साहित्य कला अकादमी** के अध्यक्ष अरविंद शर्मा "राही" हैं, जो कि देश के जाने-माने वरिष्ठ गीतकार हैं. प्रसिद्ध व्यंग्यकार लेखक मंच संचालक डॉ. अनंत श्रीमाली संस्था के महासचिव हैं और कोषाध्यक्ष देश के सुप्रसिद्ध कवि और साहित्यकार राजीव सारस्वत थे. अच्छी भली संस्था चल रही थी और पूरी मुंबई में अपनी एक विशिष्ठ अलग पहचान बना रही थी कि अचानक मुंबई में हुए बम विस्फोट में राजीव सारस्वत शहीद हो गये. उसके बाद **श्रुति संवाद साहित्य कला अकादमी** की दिशा बदल गयी एवं आम साहित्यिक संस्थाओं से अलग हटकर उसने एक नया संकल्प लिया जिन परिस्थितियों ने दिशा दी उसके अनुसार एक नया आंदोलन खड़ा किया जिसका नाम है "शब्द युद्ध आतंक के विरुद्ध." इस नारे के साथ श्रुति संवाद पिछले ९ वर्षों से राजीव सारस्वत सम्मान देश के वरिष्ठ कवि, लेखक, साहित्यकार, पत्रकारों को देती आ रही है. अब तक इसमें डॉक्टर अशोक चक्रधर, जगदीश सोलंकी, वेदव्रत बाजपाई, कुंवर बेचैन, श्रीमती माया गोविंद, डॉ. रामजी तिवारी, माणिक वर्मा, बुद्धिनाथ मिश्रा जैसे नामचीन साहित्यकारों को यह सम्मान दिया जा चुका है. पिछले वर्ष संस्था ने निर्णय लिया कि किसी वरिष्ठ कवि साहित्यकार को विशेषकर हास्य व्यंग्य के क्षेत्र में कार्यरत विभूति को उसके जीवन काल की संपूर्ण सेवाओं के लिए याद करते हुए उसे सम्मानित करें. पिछले वर्ष यह सम्मान सुप्रसिद्ध व्यंग्यकार कवि आश करण अटल को दिया गया है. यह संस्था का दसवां वर्ष है. इस वर्ष देश के वरिष्ठ नामचीन गीतकार श्री माहेश्वर तिवारी जी को यह सम्मान दिया जा रहा है और जीवन की संपूर्ण साहित्यिक सेवाओं के लिए सुप्रसिद्ध मंच संचालक और व्यंग्यकार सुभाष काबरा को यह सम्मान दिया गया. अब संस्था एक आम संस्था नहीं रही बल्कि राजीव सारस्वत की शहादत ने इस संस्था को एक आंदोलन के रूप में खड़ा कर दिया है. यह संस्था अब इसी "शब्द युद्ध आतंक के विरुद्ध" ही काम कर रही है. १० वें वर्ष में अद्भुत निर्णय लिया गया कि पिछले ९ वर्षों में जिन साहित्यिक विभूतियों को राजीव सारस्वत सम्मान दिया गया है उन्हें ही आमंत्रित किया जाए और उनका काव्य पाठ करवाया जाए, लिहाजा १० वें वर्ष पिछले वर्षों में सम्मानित सभी विभूतियों को आमंत्रित किया गया. यह संस्था समय-समय पर अन्य साहित्यिक कार्यक्रम भी आयोजित करती है. पिछले दिनों व्यंग्य-यात्रा के संपादक डॉ. प्रेम जनमेजय जी की अध्यक्षता में व्यंग्य पर केंद्रित यज्ञ शर्मा अंक पर चर्चा हुई इसके पहले आलोक भट्टाचार्य जो कि सुप्रसिद्ध कवि, मंच संचालक थे उन पर श्रद्धांजलि स्वरूप मुंबई प्रेस क्लब में एक कार्यक्रम का आयोजन हुआ. इस वर्ष श्री संजीव निगम को राजीव सारस्वत सम्मान प्रदान किया गया. ग़ज़लकार श्री हस्तीमल को भी अलंकृत किया गया. इस तरह समय-समय पर संस्था अन्य कार्यक्रम भी करती रहती है. यह संस्था बहुत सीमित साधनों में संचालित की जा रही है लेकिन अनवरत, लगातार यह साहित्यिक यज्ञ जारी है. अब संस्था आम संस्थाओं से हटकर एक उद्देश्य के साथ सार्थक काम में लगी हुई है. यह संस्था बहुत ही सीमित साधनों से संचालित की जा रही है.

महासचिव	**अध्यक्ष**
डॉ. अनंत श्रीमाली	**अरविंद राही**

आर.ए.आई. पंजीकरण संख्या : ३५७६४/७९

पत्रिका का पता : ए-१०, बसेरा, ऑफ दिन-क्वारी रोड, देवनार, मुंबई-४०० ०८८

Power of Graphite for Green Chemical Process Industry

Processes

1. Dry HCl Gas Generation System
2. Acid Regeneration System
3. HCl Synthesis Unit
4. Methanol Recovery System
5. Distillation Column
6. Packed bed Scrubber
7. Line Pipes & Fittings
8. Vacuum System

BCPL
POWER OF GRAPHITE

ब्लास्ट कार्बोब्लॉक्स प्रा. लि.

Blast Carboblocks Pvt. Ltd.

505, Persipolis, Sector 17, Vashi, Navi Mumbai - 400 705
Tel.: +91-22-27892927 / 3854 / 1907
E-mail: info@blastcarbo.com, Website: www.blastcarbo.com

मंजुश्री द्वारा संपादित व पिकॉक प्रिंट्स, बिल्डिंग नं.-1 के पीछे, अंबेडकर सर्किल, पंतनगर, घाटकोपर, मुंबई-400 075 में मुद्रित.
टाईप सेटर्स : वन अप प्रिंटर्स, 12वां रास्ता, द्वारका कुंज, चेंबूर, मुंबई-400 071.